मानस की मणियाँ

(भाग २)

—आचार्य रामजी शास्त्री

मानस की मणियाँ

(भाग २)

लेखक

रामजी शास्त्री

साहित्य व्याकरणाचार्य

● प्रकाशक
रामजी शास्त्री
साहित्य व्याकरणाचार्य
सत्संग स्थल
५०५/७५, मनकामेश्वर नगर
लखनऊ-७

सम्वत् २०३४ (प्रथम संस्करण २१०० प्रतियां)

मानस की मणियाँ

(भाग २)

मूल्य छः रुपये पचास पैसे

● वितरक
साकेत साहित्य सदन
६२, हलवासिया मार्केट,
हजरतगंज, लखनऊ

● मुद्रक
प्रिंटिंग कारपोरेशन
१४, पुराना गणेशगंज, लखनऊ-१
फोन : २८६३४

विषय-सूची

१—श्री गुरु-वाणी
२—समर्पण
३—समीक्षा
४—शब्द प्रसून
५—दो शब्द
६—भूमिका
७—स्वान्तः सुखाय १
८—चरित्र की चारुता १७
९—जे गावहिं यह चरित संभारे ४३
१०—आदि काव्य में—मन्थरा की मुखरता ५४
११—को न कुसंगति पाइ नसाई ६५
१२—भुज उठाय प्रण कीन्ह ७२
१३—राम की आँखों में आँसू ८२
१४—पक्षिराज जटायु ८९
१५—मित्र धर्म ९९
१६—समन्वय के देवता शंकर १०४
१७—राम चरित्र का एक प्रेरक सूत्र १११
१८—भक्त हृदय ११९
१९—निष्पक्ष समालोचक गोस्वामी तुलसीदास १५१

श्री गुरु-वाणी

पावन वेद पुराण विशद पर्वत हैं जग महँ।
राम कथा शुचि खानि, दिव्य दर्शत है तिन्ह महँ ।।
मर्मी सज्जन खर्नाहि कुदारी सुमति देत कर।
लखि के ज्ञान विराग नयन खोदत उमंग भर ।।
प्रगटें मणियाँ रुचिर तब, जिन्हें निरखि मुनि मन ठगें।
'रामदास' अरु 'राम' हिय, 'मानस मणियाँ' जग मगें ।।

श्री सीताराम जी की कृपा से प्रयास प्रशंसनीय है। मानस की मणियाँ, भक्तों के हृदय में सदा सुशोभित हों, ऐसी शुभ कामना है।

—*रामदास*
हनुमानगढ़ी, नूराबाद
जि० मुरेना (म० प्र०)
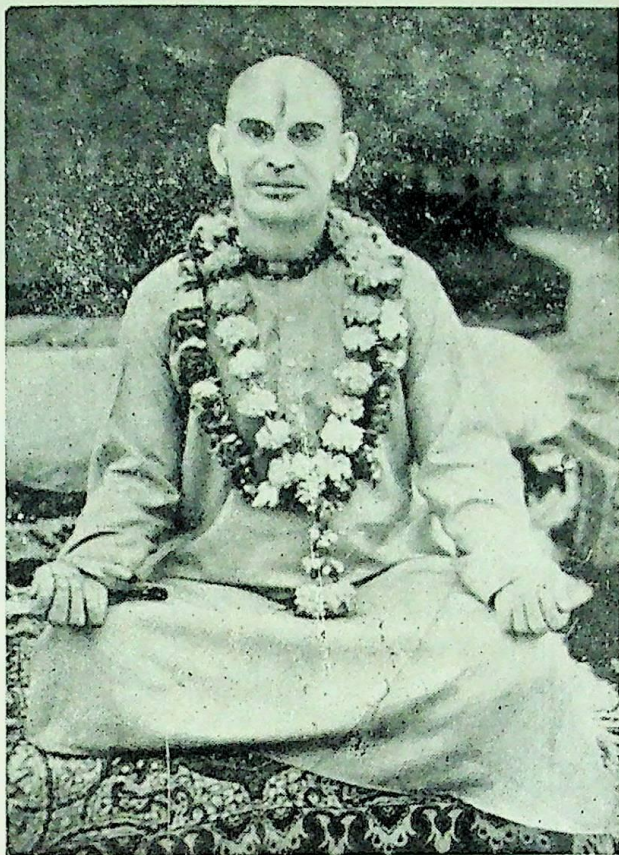
अनन्त श्री विभूषित पूज्य बाबा रामदास जी महाराज
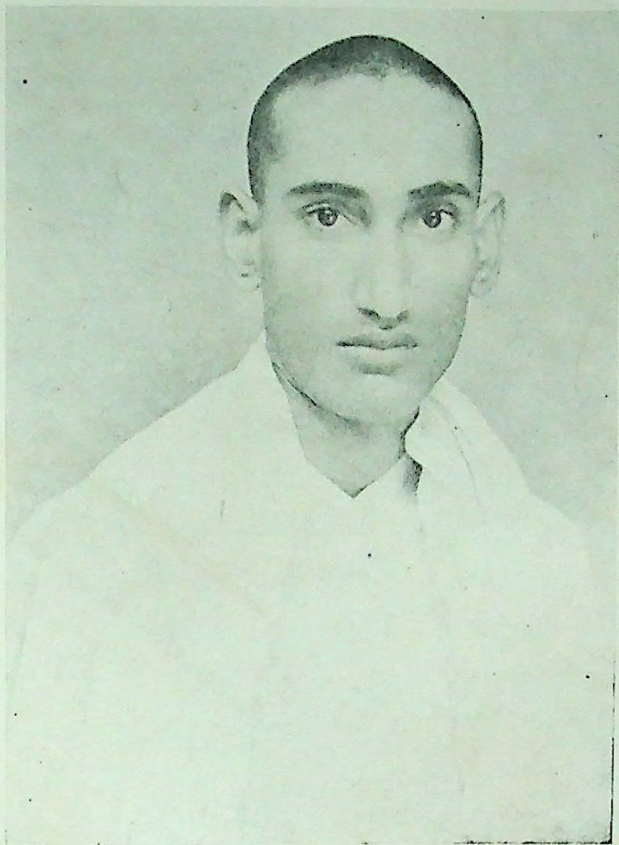
लेखक (राम जी शास्त्री)

✳ समर्पण ✳

जिनका
परिचय, मेरे जीवन-वन का
वसन्त है, जिनका सामीप्य, उसमें सुमनों
का हास है। सत्प्रेरणा, सौरभ-संचार, आस्था का स्थैर्य
फल और जिनके द्वारा मानस-माधुरी का दान ही फलास्वाद है

●

धीरता जिनका
राजसिंहासन है, जिनके
मस्तक पर छत्र है सहनशीलता।
जिनकी राजाज्ञा है करुणा और जिनका
उद्देश्य है सन्त पद्धति से सन्त शेखर गोस्वामी
तुलसीदास जी के 'मानस' द्वारा जनमानस में रामराज्य का उदय !

●

जिनकी वाणी घनघटा
बनकर 'मानस' की मर्मस्पर्शी
पीयूषधारा वर्षण करती है, जिन्होंने
अनेक मानस-सम्मेलनों को जन्म दिया
पोषण और संचालन दिया, उन उदारचरित अर्चनीय चरण
श्री गुरुवर्य (अनन्त श्री विभूषित पूज्य बाबा रामदासजी महाराज)
के वरद हस्तों में 'मानस की मणियाँ-२' सादर समर्पित

—रामजी शास्त्री

सन्त 'विनीत' की

शुभ-कामना

श्रद्धेय श्री श्रीराम जी शास्त्री रचित 'मानस की मणियाँ' प्राप्त हुई। इसको मैंने प्रेम से पढ़ा तो ऐसा अनुभव हुआ कि मानस मर्मज्ञों के लिए अमूल्य मणियाँ ही नहीं बल्कि मेरी समझ में इस पुस्तक में—

"परमार्थ पराग लिये विकसीं,
प्रभु प्रेम प्रसून की पाँखुड़ियाँ।
अथवा कमनीय कथा के सिंगारन
को, कल-कंचन की कड़ियाँ।
अब भाग्य जगें हरि भक्तनि के,
उँमगें हिय आनंद की घड़ियाँ।
बरसें जब व्यासन के मुख से,
शुभ मंच पै 'मानस की मणियाँ'॥

आशा है, कि यह पुस्तक, मानस प्रेमियों का सदा सम्मान प्राप्त करेगी तथा समाज में कल्याणकारी रहेगी।

—सन्त 'विनीत' मानसोपदेशक-चित्रकूट

लखनऊ विश्वविद्यालय के प्राध्यापक

डा. रामफेर त्रिपाठी

द्वारा

आकाशवाणी, लखनऊ से प्रसारित 'मानस की मणियाँ' की समीक्षा

"श्री रामजी शास्त्री द्वारा रचित 'मानस की मणियाँ' संज्ञक पुस्तक में राम कथा से सम्बद्ध अनेक विषयों का विवेचन काफी गहराई के साथ किया गया है। चूंकि शास्त्री जी साहित्य और व्याकरण के आचार्य हैं, इसलिए वे समस्त संस्कृत-साहित्य और उसके काव्य शास्त्र के ज्ञान को लेकर तुलसीकृत राम कथा के प्रसंगों का ऐसा विवेचन करते हैं जिससे श्रोता या पाठक को न केवल विषय की गहरी जानकारी ही होती है, वरन् उनमें राम और राम कथा के प्रति रुचि भी बढ़ती जाती है। पुस्तक में उल्लिखित विषयों के विवेचन की ध्वनि से यह ज्ञात होता है कि शास्त्री जी ने पहले इन विविध प्रसंगों को अपने राम कथा-प्रेमी श्रोताओं को सुनाया है और बाद में उन्हें लिपिबद्ध कर लिया गया है। राम कथा-प्रेमी पाठकों के लिए यह निश्चय ही एक महत्वपूर्ण कृति है। शास्त्री जी की भाषा प्रसाद गुणमयी, सरस, सरल और सुबोध है, जो अपने कथ्य को बड़ स्पष्ट रूप में सामने रखती है।"

शब्द–प्रसून

मानस-सागर प्रविसि, सूक्ति सीपी संचय करि।
सुन्दर सुखद सँवारि शब्द-सम्पुट सादर भरि॥
परम शांति की कान्ति सहज जग जगमग होती।
मानव मन हित मिले मूल्यमय मंजुल मोती॥
अति पावन वेद पुराण गिरि, खोजि खोदि अति चाव सों।
यह 'मानस की मणियाँ' प्रगट कीन्हीं भक्ति सु-भाव सों॥
दोहा—देवगिरा वर व्याकरण, साहित के आचार्य।
शास्त्री वर श्री राम जी का यह कौशल-कार्य॥

रामचरित मानस के सुप्रसिद्ध प्रवचनकार—

पं० रामेश्वर प्रसाद त्रिपाठी, रामायणी
११०३ कटरा, इलाहाबाद-२

दो शब्द

आचार्य श्री राम जी शास्त्री का मैं बहुत पहले से स्नेह-भाजन रहा ँ। तथा मैंने अनेक कथावाचकों एवं मानस के प्रवचनकारों को सुना है, परन्तु श्री शास्त्री जी में कुछ विशेषता ही और देखी, वे बाल ब्रह्मचारी, सच्चरित्र, उदार और भक्त हृदय होने के साथ साथ शास्त्रों के ज्ञाता तथा गम्भीर चिन्तक हैं। उनकी कथा शास्त्र सम्मत, मर्यादा युक्त, प्रभावशाली, प्रेरणाप्रद तथा कल्याण कारी होती है। वे भक्ति की ऐसी मन्दाकिनी प्रवाहित कर देते हैं जिससे अन्तःकरण का कलुष धुल जाता है और श्रोता भक्ति-भाव से विभोर होकर एक बार अवश्य झूम उठता है। वे वास्तव में इस (मानस) ताल के चतुर रखवारे हैं।

उनकी वाणी में आकर्षण, कण्ठ में कोमलता तथा शब्दों में शक्ति है। उनके लेखों में सूक्ष्म चिन्तन, प्राञ्जल भाषा, ज्ञान की गरिमा तथा भावों का गाम्भीर्य स्पष्ट दिखाई देता है। भगवान राम के चरित्र सूत्र में पिरो कर 'मानस की मणियों' की माला बनाने का उनका यह प्रयास स्तुत्य है।

यह मेरा सौभाग्य है कि प्रूफ संशोधन के माध्यम से मुझे इन मानस की मणियों को सूक्ष्म दृष्टि से अवलोकन करने का शुभ अवसर प्राप्त हुआ। इसमें अलंकारों की चमक, ज्ञान का प्रकाश, भक्ति का अलौकिक धन तथा आनन्द का भण्डार सभी कुछ सन्निहित है। इसके पारखी स्वयं इसका मूल्याङ्कन करेंगे।

भगवान से मेरी प्रार्थना है कि इन मानस की मणियों (की माला) को भक्त-पाठक हृदय पर धारण करें। इससे उनके तन की शोभा और मन की निर्मलता के साथ साथ बुद्धि में ज्ञान का विकास होगा तथा वे भगवद्भक्ति प्राप्ति करके परम कल्याण के भागी बनेंगे।

बाबूलाल गुप्त 'श्याम'
सह सम्पादक 'गौरव' साप्ताहिक
ऋषि आश्रम, डालीगंज, लखनऊ

भूमिका

जैसा कि मैंने 'मानस की मणियाँ' प्रथम भाग की भूमिका में निवेदन किया था कि 'मानस' पर अभी पर्याप्त सामग्री मेरे पास संगृहीत है, जिसे द्वितीय खण्ड के रूप में प्रस्तुत करने का विचार है' उसका अवसर अब लगभग चार साल बाद उपलब्ध हुआ है ।

प्रथम खण्ड को मानस प्रेमी एवं मानस-मनीषी दोनों ने खूब अपनाया, उसकी थोड़ी-सी प्रतियाँ शेष रह गयी हैं ।

इस द्वितीय खण्ड में कुछ लेख पुराने और कुछ नये हैं । उनमें विचारात्मक एवं भावात्मक, बुद्धि तथा हृदय दोनों का मिलन है ।

मेरी आरम्भ से ही यह कामना रही है कि 'मानस' पर प्रवचन करते या लिखते समय आर्षग्रन्थों का ध्यान रक्खा जाय, उनकी मर्यादा, उनकी पवित्रता का बोध, जन-जन के मन में जगाने का पवित्र प्रयत्न किया जाय । 'मानस' में जिन शास्त्रीय सिद्धान्तों का प्रतिपादन है, उनके मूल ग्रन्थों को देखने की सद्भावना, प्रबुद्ध श्रोता के हृदय में उद्बुद्ध की जाये ।

मानस के विषय में यह गौरव-गान सर्वविदित है कि वह 'छहो सास्त्र सब ग्रन्थनि को रस' है । बात बहुत ठीक है, पर कुछ लोगों ने इसका बड़ा विपरीत अर्थ लिया है । वे कहते हैं कि जब सन्तरा, मुसम्मी का रस हम ले लेते हैं तो फिर छिलका बटोरने की क्या आवश्यकता ? जब सम्पूर्ण ग्रन्थों का रस प्राप्त हो गया तो अन्य ग्रन्थों के पीछे पड़ने का प्रयोजन ही क्या ? 'तुम्हें आम खाने से मतलब कि पेड़ गिनने से ?"

पर ऐसा कथन ही अविवेक पूर्ण है । यदि दृष्टि केवल फल पर ही होगी, उस फल को अपने सम्पूर्ण जीवन-रस के रूप में प्रस्तुत करने वाले वृक्ष की उपेक्षा की जायगी तो हो सकता है आप फल से ही वंचित हो जायें । और कहीं कोई फलाग्रही व्यक्ति पेड़ को निरर्थक बताकर उस पर

कुठार-प्रहार करना शुरू कर दे तो उस दशा में उसे फल प्रेमी कौन कहेगा ? इस सम्बन्ध में मेरी भावना का पता **'जे गावहिं यह चरित सँभारे'** शीर्षक लेख में मिलेगा ।

प्रभु के पवित्र चरित्र पावन प्रेरणा के अमर स्रोत हैं, इस दृष्टि का पोषक है **'चरित्र की चारुता'** शीर्षक लेख ।

यद्यपि गोस्वामी तुलसीदास जी ने अपने राम चरित मानस में प्रभु श्रीराम को पूर्ण परमात्मा कहा है । कोटि-कोटि ब्रह्माण्डपिण्ड, उनके एक-एक रोम में रमे हैं । वही सच्चिदानन्द श्री हरि 'मानस' के प्रतिपाद्य हैं—

—'प्रभु प्रतिपाद्य राम भगवाना'

गोस्वामी जी का यह मत शास्त्र सम्मत है । आदि काव्य में माता सुमित्रा कहती हैं—

सूर्यस्यापि भवेत् सूर्यो ह्यग्नेरग्निः प्रभोः प्रभुः ।
श्रियाः श्रीश्च भवेदग्र्या कीर्त्याः कीर्तिः क्षमा क्षमा ।।

दैवतं देवतानां च भूतानां भूत सत्तमः ।
तस्य के ह्यगुणा देवि ! वने वाप्यथवा पुरे ।।

(वाल्मीकि० ४४/१५, १६)

माता कौसल्या को धैर्य देती हुई वे कहती हैं—श्रीराम, सूर्य के भी सूर्य, अग्नि के भी अग्नि, प्रभु के भी प्रभु, श्री के भी श्री, कीर्ति के भी कीर्ति रूप एवं वे क्षमा के भी क्षमा हैं । वे देवों के भी देव हैं, भूतों के भी श्रेष्ठ भूत हैं । देवि ! वे चाहे वन में रहें या पुर में क्या अन्तर पड़ता है ?

आदि काव्य में मन्दोदरी ने भी कहा है—

'अप्रमेयं हि तत्तेजो यस्य सा जनकात्मजा' ।

जनकात्मजा जिनकी पत्नी है उनका तेज अप्रमेय है । महाभारत में भीष्म पितामह का वाक्य है—

स

यश्च मानुषमात्रोऽयमिति ब्रूयात् स मन्दधी: ।
हृषीकेश मवज्ञानात् तमाहुः पुरुषाधमम् ।।

'जो मन्द बुद्धि हृषीकेश भगवान को मनुष्य मात्र कहता है वह पुरुषाधम है ।

गीता में श्रीकृष्ण स्वयं कहते हैं—

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् ।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ।। (गीता ९/११)

वे मूढ मानव हैं, जो मुझे मानव रूप में देखकर समस्त भूतों के महान् ईश्वर मुझको, अपना-जैसा सामान्य मनुष्य मानकर मेरा अपमान करते हैं ।'

श्रीमद्भागवत नवम स्कन्ध में कहा है—

—'साक्षात् ब्रह्ममयो हरिः'

श्रीराम साक्षात् ब्रह्म हैं ।

भगवान कृष्ण द्वैपायन व्यास, पद्म पुराण में कहते हैं—

ब्रह्मविष्णुमहेशाद्या यस्यांशा लोकसाधकाः ।
तमादिदेवं श्रीरामं विशुद्धं परमं भजे ।।

"समस्त लोकों के सञ्चालक ब्रह्मा विष्णु और शकर जिनके अश है, उन आदि देव परम विशुद्ध श्रीराम का मैं भजन करता हूँ ।"

इसीलिये गोस्वामी तुलसीदास जी ने कहा है—

संभु बिरंचि बिष्णु भगवाना ।
उपजैं जासु अंस ते नाना ।।

राम तापनीय उपनिषद् का कथन है—

रमन्ते योगिनोऽनन्ते नित्यानन्दे चिदात्मनि ।
इति रामपदेनासौ परं ब्रह्माभिधीयते ।।

जिस सत, चित एवं आनन्द स्वरूप राम में योगी लोग नित्य रमण करते हैं, इस प्रकार की व्युत्पत्ति से युक्त 'राम पद से 'पर ब्रह्म' का कथन होता है ।'

श्री रामनवरत्नसार संग्रह के मंगलाचरण में कहा है—

'मत्स्यः कूर्मो वराहो नरहरि रतुलो वामनो जामदग्न्यः,
स भ्राता कंसशत्रुः करुणमयवपु र्म्लेच्छप्रध्वंसनश्च ।
एते चान्येऽपि सर्वे तरणि कुलभुवो यस्य जाताः कलांशैः,
तं व्याप्तं ब्रह्मतेजोविमलगुणमयं रामचन्द्रं नमामि ।।

इसी कारण श्रीराम के नाम का सर्वाधिक महत्व है । स्कन्द पुराण वैष्णव खण्ड वैशाख माहात्म्य में कहा है—

विष्णोरेकैक नामापि सर्ववेदाधिकं मतम् ।
तेभ्यश्चानन्तनामभ्योऽधिकं नाम सहस्रकम् ।।
तादृक् नामसहस्रेण रामनामसमं मतम् ।।

'भगवान विष्णु का एक-एक नाम वेदों से भी अधिक है, उन नामों से भी 'विष्णु सहस्र नाम' अधिक श्रेष्ठ है, पर विष्णु सहस्र नाम के समान एक राम का नाम है ।'

इस प्रकार दशरथ नन्दन श्रीराम साक्षात् भगवान् हैं, इसमें किसी भी राम भक्त को सन्देह नहीं है, किसी भी आस्तिक के मन में भ्रम नहीं है । पर कुछ मानस' के विवेचक इस तथ्य का प्रतिपादन इस आवेश के साथ करते हैं, जिससे वे ऐतिहासिक न रहकर काल्पनिक अधिक हो जाते हैं ।

एक बार देश के एक बहुभाषा विद् प्रसिद्ध सन्त विद्वान् ने कहा था—"राम चाहे ऐतिहासिक पुरुष भले ही न हों पर वाल्मीकि और तुलसी ने उनके जिस आदर्श को लोक के सामने रक्खा है, वह सर्वथा अनुकरणीय है ।"

यह [illegible] बनकर न रह जायें ।

जो लोग कहते हैं, 'श्रीराम को महापुरुष मानना भूल है । केवल महापुरुष मानने से हम कोई प्रेरणा उनसे नहीं ले सकते । अपने देश में इतिहास प्रसिद्ध, पुराण-प्रथित कितने ही महापुरुष हुए, लोगों ने उनसे क्या प्रेरणा ली ? राम, इतिहास-पुरुष नहीं वे तो शाश्वत तत्व हैं, उनका इतिहास शाश्वत है, वे भगवान हैं ।'

"इतिहास प्रसिद्ध महापुरुषों से समाज ने कोई प्रेरणा नहीं ली" मैं इस कथन से सर्वथा असहमत हूँ । रामचरित मानस में ऐसे अनेक महापुरुषों के नाम हैं, जो जन-जन के आदर्श रहे और हैं । शिवि, दधीचि, हरिश्चन्द्र, शिवाजी, राणा प्रताप आदि महापुरुष भगवान नहीं थे, फिर भी वे हमारी सत्प्रेरणा के अमर स्रोत है । महात्मा गान्धी ने राजा हरिश्चन्द्र एवं श्रवण कुमार के चरित्रों से प्रेरणा ली । पर प्रेरणा लेने वाले ही लेते हैं सब नहीं ।

इतिहास का शाब्दिक अर्थ है, इति + ह + आस । 'ऐसा निश्चित रूप से हुआ' । जो वास्तविक है वह इतिहास है । यह दूसरी बात है कि आधुनिक लोग इतिहास को 'इति + हास' बना डालते हैं, जिसका अर्थ होगा ऐसा हास्य —हास्यास्पद । इतिहास केवल भूतकाल की घटनाओं का बेमेल जोड़ नही, वह वर्तमान का निर्माता और भविष्य का सन्देष्टा है, कार्य-कारण के तटों में बहने वाला वह प्रवाह है जो अखण्ड है ।

इसीलिये कहा जाता है कि इतिहास अपनी आवृत्ति किया करता है । वह जीवन्त है मृत नहीं । वह जो कार्य एवं कारण के एक निश्चित सूत्र देता है, उन्हीं को थाम कर समाज अपने कदम आगे बढ़ाता है । इसलिये श्रीराम ऐतिहासिक महापुरुष हैं, ऐसा मानने से उनकी कीमत कम नहीं हो जायगी । आखिर उन्होंने नर रूप लिया अतः वे इतिहास

प्रसिद्ध पुरुष हैं, इस तथ्य को कैसे झुठलाया जा सकता है ? वे त्रेता के अन्त में राजा दशरथ के गृह में प्रादुर्भूत हुए, छोटे बने, क्रम से बड़े हुए, धनुष बाण चलाना सीखा, शत्रुओं का वध किया। रोये वे, हँसे वे, सोये वे, जगे वे। अनेक नर-चेष्टाएँ उन्होंने की। उनका नरावतार नरशिक्षण के हेतु हुआ, इसीलिये हम उन्हें मर्यादा-पुरुषोत्तम कहते हैं। मर्यादा एक विशिष्ट सीमा का नाम है। परमात्मा तो असीम होता है, सीमातीत होता है। जो गुणातीत है, वह मर्यादा-अमर्यादा का विषय बनता भी नहीं, फिर वह आदर्श का प्रकाश कैसे दे सकता है ? क्योंकि आदर्श का आधार मानव है, प्रभु ने मानव रूप लिया है अतः वह भगवान हैं, पुरुषोत्तम है, महापुरुष हैं—

'वन्दे महापुरुष ! ते चरणारविन्दम्'।

(—भागवत ११।५।३३-३४)

'मानस' के प्रचार क्षेत्र में मेरी दृष्टि का केन्द्र विन्दु यही तथ्य है। निकट सम्पर्क में आने वाले मानस-व्यासों से भी मेरा ऐसा ही अनुरोध रहता है।

वैसे प्रचार के सम्बन्ध में मेरी ऐसी मान्यता है कि किसी का प्रचार कोई नहीं कर सकता। जो तथाकथित प्रचार दूसरों के द्वारा होता है वह कृत्रिम होता है। उस प्रचार में उसका लक्ष्य भिन्न होता है। किसी का भी सच्चा प्रसार अपने आप होता है, युग-युग की परिस्थितियाँ उसे आगे बढ़ाती हैं। 'मानस' के सम्बन्ध में भी यही बात है। 'मानस' का प्रचार स्वयं 'मानस' के मानव-मोहक स्वरों ने किया है, उसके हृदयस्पर्शी शब्दों ने किया है। मानस के पवित्र सम्पर्क ने न जाने कितने कथा वाचकों का जन-जन में प्रचार किया है, उन्हें ख्याति दी है। उन्हें नाम दिया, दाम दिया और उन्हें दिया बिना दाम के राम को !

तुलसी के ये शब्द कितनी खरी बात कह गये है—

—'दारु बिचार कि कारिय कोउ, बन्दिय मलय प्रसंग।'

हाँ, व्यवहार की भाषा में हम कह सकते हैं कि किसी भी कार्य के लिये कोई निमित्त होता है। ऐसे निमित्त हैं, श्रोता, आयोजक और वक्ता। इनमें वक्ता का अपना एक अनोखा व्यक्तित्व है।

इस दृष्टि से रामचरित मानस के पवित्र प्रचार में जहां पुरुष वर्ग योगदान दे रहा है, वहां नारी वर्ग भी किसी से पीछे नहीं है। कितनी ही बालिकाएँ मानस पर मधुर कण्ठ से प्रवचन कर जन-जन में कुतूहल, आकर्षण एवं श्रद्धा उत्पन्न कर रही हैं।

कुछ वर्ष पूर्व एक नव वर्षीया बालिका मेरे सम्पर्क में आई। मेरे सान्निध्य में रहकर 'मानस' का अध्ययन करती रही और आज भी चिन्तन-निरत है। अध्ययन-निष्ठ एवं साधना-संलग्न इस बालिका का हृदय, शुभ संस्कारों का उज्ज्वल दर्पण है। प्रवचन-क्षेत्र में मानस मञ्जरी कु० स्वर्ण-लता शर्मा के नाम से यह प्रसिद्ध है। उसके पिता हैं श्री प० रघुवर दयाल शर्मा। रहने वाले हैं—गणेशपुरा, मुरेना म०प्र० के।

एक अन्य बालिका है। उसने अपनी स्मरण शक्ति का विचित्र परिचय दिया। मेरे द्वारा रचित 'मानस की मणियाँ भाग-१' को पूरा का पूरा कण्ठस्थ कर लिया और केवल कण्ठस्थ ही नहीं किया, उसे दूसरों के कण्ठ में उतार देने की कला भी प्राप्त कर ली है, ऐसा मैंने उस बालिका के—परिवार वालों से ही सुना है। यह जानकर मुझे एक सन्तोष एवं हर्ष हुआ कि 'मानस' पर व्यक्त मेरे विचारों को कई लोगों ने अपनाया है। प्रभु के गुणगान की शाखा-प्रशाखायें फैलती चली जा रही हैं।

मुझे मानस की प्रेरणा

जीवन की प्रभात बेला में ही मुझे 'मानस' का प्रकाश मिला, मानस का साथ मिला। मेरा जन्म विक्रम संवत् १९७१ गंगा दशहरा का है। जीवन के ६३ वसन्त देख चुका हूँ और प्रतिदिन प्रार्थना करता हूँ—'जीवेम

शरद: शतम्'। लगभग १४ वर्ष की अवस्था से ही मेरा 'रामचरित मानस' से सम्बन्ध है। मानस के साथ सम्बन्ध जोड़ने में मेरी मां का सर्वप्रथम विशेष हाथ रहा। उन्हें मैं पं० ज्वाला प्रसाद की टीका वाली रामायण प्राय: गाकर सुनाता था, पढ़कर अर्थ बताया करता था। मेरे पिता श्री पं० रामरतन मिश्र ने संगीत की विधिवत् शिक्षा कहीं नहीं प्राप्त की थी, पर उनका कण्ठ बड़ा सुरीला था और वे गाँव में होने वाली 'गम्मतों' (गान गोष्ठी) में बराबर भाग लेते थे, मेरे कण्ठ पर उनकी छाप है।

मेरी जन्म भूमि है मुरेना मण्डलान्तर्गत ग्राम—देवगढ़। छोटा सा ग्राम, लगभग ५० घरों की बस्ती। ओहदेदार ठाकुरों की जन्मभूमि। आज भी उनकी याद को सँजोये खड़े हैं, प्रस्तर-खण्ड निर्मित चूने से पुते हुए चमाचम तीन महल। लगता है, धुला हुआ, कलप लगा, मल-मल का कुरता पहने खड़ा है ठाकुरों का ठाठ-बाट। पर जनहीन होने के कारण भीतर से निर्जीव-सा। उन महलों की ओर पश्चिमोत्तर से राहु-सा मुँह बाये फैले हैं चम्बल के विकट बीहड़। उन बीहड़ों की दाढ़ें हैं हिंस्र पशु एवं दुर्दान्त दस्यु। फिर भी मुझे प्यारे थे वे बीहड़। वह गाँव की गोद, वहाँ का बगीचा, छत्रियाँ, जहाँ मैं दिन-दिन भर घूमा-फिरा करता था, पिता के कण्ठ से कण्ठ मिलाकर गाया करता था। 'मानस' का किष्किन्धा-काण्ड सर्वप्रथम मैंने देवगढ़ में ही याद किया था।

पिता के न रहने पर हमारी माँ हमें 'देवगढ़' से लगभग दो कोस दूर ग्राम 'बागचीनी' में ले आई। वहां हम लोगों की ननिहाल थी। दो भाई हम और हमारी छोटी बहन, ये तीन हमारी मां के तीन लोक थे। नाना ने बड़े प्यार से पाला।

बागचीनी पहुँच कर मैं उभरा। वहां की रामलीला में मैंने भाग लेना शुरू किया। वहां मुझे राम की पात्रता में इतनी ख्याति प्राप्त हुई कि मैं 'गंगाराम' से 'रामजी' हो गया। लोग मुझे इसी नाम से पुकारने

लगे और मैंने भी इसे अपना लिया। यह वही रामलीला थी जिसमें पूज्य गुरुदेव ने वसिष्ठ एवं विश्वामित्र की पात्रता की थी। और रामलीला को ऐसी मर्यादा प्रदान की थी जिसे वहां के लोग आज तक नहीं भूले हैं।

राम की लीला की, राम जी का नाम मिला और दैनिक रूप से रामचरित मानस के पाठ की प्रेरणा मिली। और धीरे-धीरे रामचरित मानस के एक सौ आठ पाठ कर डाले। 'मानस' मेरे जीवन का मधुर गान बन गया। उस समय मेरी अवस्था लगभग १८-१९ वर्ष की रही होगी। हम दोनों भाइयों ने—अनेक कष्ट भी उठाये। असहाय जीवन के रोमाञ्च-कारी वे दिन मुझे आज भी खूब याद हैं। मैं यह भी नहीं भूल सकता कि प्रभु की कृपा, 'रामचरित मानस' बनकर मेरे 'मानस' में उतरी।

मेरे मानस-मनन के मङ्गलमय बीज से प्रवचन-पादप लहराया, उसमें जो फल लगे, उनका रस है 'मानस की मणियां। पुस्तक के इस नाम करण का भी एक कारण है। भारतवर्ष भर में 'मानस-चिन्तन को लेकर निकलने वाली एक मात्र पत्रिका है 'मानस मणि'। वह मानस संघ, राम-वन, सतना, म०प्र० से निकलती है। मानस-विषयक मेरे लेख सर्वप्रथम उसी पत्रिका में क्रम से निकलते रहे। अधिकांश में उन्हीं प्रकाशित लेखों ने पुस्तक का रूप लिया, अत: कृतज्ञता वश, 'मानस की मणियाँ' इसका नामकरण किया। अब से लगभग २७ वर्ष पूर्व 'मानस' पर लिखने का श्रीगणेश किया था अत: इस खण्ड में उसी समय का अपना एक चित्र दे रहा हूँ।

प्रकाश में आने वाली मेरी यह पञ्चम कृति है। प्रथम कृति है 'सन्त चरित्र' 'दिव्य जीवन' द्वितीय आचार्य वल्लभ कृत यमुनाष्टक की वृहद् व्याख्या, तृतीय 'लल्द्यद' कश्मीरी भाषा के पदों का संस्कृत पद्यानु-वाद जिसे प्रकाशित किया है, 'भुवन वाणी ट्रस्ट, चौपटिया रोड, लखनऊ-३ ने, चतुर्थ मानस की मणियाँ-(१), तथा पांचवीं कृति'—'मानस की मणियाँ-(२)'आपके हाथ में है।

अन्त में मैं अपने मित्रों के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करना अपना कर्तव्य समझता हूँ, जिन्होंने प्रेरणा, प्रोत्साहन एवं सुझाव देकर पुस्तक प्रकाशन को सुकर बना दिया।

सर्वप्रथम अपने सुपरिचित विद्वान सन्त—श्री अभिराम दास जी, एम-ए, (अध्यक्ष, श्री महर्षि गुरुकुल ब्रह्मचर्याश्रम गुजरात, जूनागढ) के प्रति आभार प्रदर्शित करूँगा जिनके सक्रिय सहयोग ने मुझे प्रोत्साहित किया। वे अपने निश्छल बाल-सुलभ भाव से मुझे स्नेह दिया ही करते हैं।

विविध आयोजनों के सफल सञ्चालक, सत्सङ्ग-स्नेही, परम विनम्र प्रोफेसर श्री भुवनेश्वरी दयाल जी के हाथों में पुस्तक की पाण्डुलिपि सौंपकर मैं निश्चिन्त हो गया था। उन्होंने विश्वस्त 'प्रिंटिंग कारपोरेशन' प्रेस को छपने का काम सौंपा और आज 'मानस की मणियाँ—(२)' इस रूप में सज धज के साथ प्रकाशित होकर पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत है। 'मणियों' की चमक बढ़ाने में 'गौरव' के सह सम्पादक, विद्याव्यसनी, मेरे अभिन्न मित्र श्री बाबूलाल जी 'श्याम' का बड़ा योगदान रहा। प्रूफ संशोधन का प्रमुख कार्य वह करते रहे तथा समय समय पर अमूल्य सुझाव भी वे देते रहे।

सच पूछा जाय तो कृपामय प्रभु जिससे जो कार्य लेना चाहते हैं, उस कार्य में वैसे ही सहयोगियों से भेंट करा देते हैं, और कह देते हैं—

—'निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्'।

प्रभु प्रेरणा से 'मानस की मणियाँ—३ की विचार सामग्री भी, मेरे मन-मन्दिर के झरोखों से झाँकने लगी है, मेरे हस्तावलम्ब से वाणी के प्राङ्गण में उतरने की प्रतीक्षा में है, मानस प्रेमी भी उसकी प्रतीक्षा करें।

महाशिवरात्रि
मंगलवार ७ मार्च १९७८

मानसानुरागियों का अनुचर
रामजी शास्त्री

स्वान्तः सुखाय

जब कोई व्यक्ति किसी कार्य में संलग्न होता है तो उसके मूल में प्रयोजन का बीज अवश्य होता है। प्रयोजन विहीन, उद्देश्य-शून्य प्रवृत्ति होती नहीं। पर प्रयोजन अन्तःस्थिति के अनुरूप होता है। मेधा-मण्डित मानव की महती प्रवृत्ति, एक महान प्रयोजन को लेकर ही होती है। उदात्त भावनाओं से विभूषित हृदय, साधना से संशोधित बुद्धि एवं पूत पौरुष से परि-मार्जित शरीर द्वारा जो विशिष्ट कार्यकलाप सम्पन्न होते हैं, उनका उद्देश्य भी उतना ही अनोखा होता है।

यह तथ्य सर्वत्र निर्विवाद रूप से सर्वमान्य है, फिर वह चाहे व्यवहार-क्षेत्र हो या काव्य क्षेत्र। काव्य-क्षेत्र की दीर्घ परम्परा में तो काव्य प्रयोजनों का एक सुप्रसिद्ध श्रेणी-विभाजन हो चुका है। काव्य प्रकाशकार आचार्य मम्मट के अनुसार वे निम्नस्थ हैं:—

धनोपलब्धि, व्यवहार बोध, कीर्ति-कामना, कान्ता-सम्मित कटाक्षोपलक्षित सरस उपदेश, एवं सद्यःपरनिवृत्ति—तत्काल उत्कृष्ट आनन्दोपलब्धि।

पर कवि-कुल-मुकुट मानसकार महातमा गोस्वामी तुलसीदास अपने ग्रन्थारम्भ में रचना का जो उद्देश्य व्यक्त करते हैं वह

सर्वविलक्षण प्रयोजन है। वे निश्छल भाव से स्पष्ट करते हैं—

"स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथ-गाथा-भाषा-निबन्धमति मञ्जुल मातनोति" यह तुलसी, रघुनाथ गाथा से—गुम्फित, अति मञ्जुल भाषा-निबन्धका प्रणयन करता है और उसका उद्देश्य है 'स्वान्तःसुख'।

अन्तःसुख के हेतु रचना की भावना, एक विरक्त सन्त के तो सर्वथा अनुरूप है, पर समाज की विशाल पृष्ठभूमि के सन्दर्भ में यह कथन संकीर्ण प्रतीत होता है। एक व्यक्ति की तृप्ति, एक अन्तः की सुखानुभूति संसार त्यागी हृदय का अभीष्ट सुख, पूरे समाज के साथ न्याय कैसे कर सकता है ?

पर सूक्ष्मता से निरीक्षण करने पर स्पष्ट परिलक्षित होता है कि स्वान्तः सुख ही काव्य का मूल सुख है। फिर गोस्वामी के स्वान्तः का तो कहना ही क्या है। वे एक सन्त हैं और सन्त का स्वरूप, उनकी सम्मति में विश्व समर्पित रूप है उन्हीं के शब्दों में—

सन्त हृदय नवनीत समाना, कहा कबिन पै कहै न जाना।
निज परिताप द्रवइ नवनीता, पर दुख द्रवइ सन्त सुपुनीता।

ऐसा है सन्त-स्वान्तः। विश्व की पीड़ा से विगलित करुणा का प्रवाह ही जिनके अन्तःकरण की गंगा है, उस अन्तः का सुख कितना महान् होगा ? वह सुख स्वगत नहीं विश्वगत ही देखा जा सकता है। अतः संन्त तुलसी का—स्वान्तःसुख—विश्व सुख में ही परिणत हो जाता है, उसमें संकीर्णता कहाँ ?

आधुनिक आलोचकों का मत है 'गोस्वामी तुलसीदास पहले
भक्त हैं और बाद में कवि ।' स्पष्ट है, भक्त-हृदय, भगवान का निवास भवन होगा और विश्वम्भर जिस हृदय का, जिस अन्तः का अतिथि होगा, वह छोटा कैसे हो सकता है ? गोस्वामिपाद के चरित नायक राम की परिभाषा में भव्य भक्त का लक्षण है—

सो अनन्य जाके असि मति न टरइ हनुमन्त,
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवन्त ।

ऐसी विस्तृत परिभाषा श्रीराम के सेवक की है । सम्पूर्ण वानरी-सेना को अयोध्या से विदा करते समय अन्तिम सिद्धान्त की बात कहते हैं—

'अब गृह जाहु सखा सब, भजहु मोहि दृढ़ नेम'

मेरे मित्रो ! दृढ़ नियम से मेरा भजन करो—इस कथन में समाज, राष्ट्र एवं विश्व के प्रति कर्तव्य की उपेक्षा झलकती है। अतः अगली अर्धाली में 'मोहि' का अर्थ स्पष्ट करते हैं—

सदा सर्वगत सर्व हित जानि करेहु अति प्रेम

मैं सर्वगत हूं, मेरा उद्देश्य सर्वहित है—यह जानकर मुझसे अति प्रेम करो'। ऐसे हैं तुलसी के विश्व-विमोहन राम । ऐसे प्रभु राम के परमोपासक हैं ग्रन्थकार । उनके अन्तः का सुख, सार्वजनीन एवं सार्वभौम सुख है ।

इस तथ्य पर एक भिन्न भंगिमा से भी विचार किया जाय । सामाजिक धरातल पर स्वान्तः सुख के दो स्रोत दृष्टिगत होते हैं—एक है वहिरंग साधनों के द्वारा जीवन की अनुकूल स्थिति,

दूसरा है [illegible] । प्रथम बाह्य साधनों पर निर्भर है, अतः वह पराधीन है, सीमित है, नश्वर है, पर द्वितीय सुख की स्थिति शाश्वत है, अमर है। विश्वोन्मुख उच्छलन क्या है, इसे एक-दो उदाहरणों से स्पष्ट किया जा रहा है।

जैसे एक नव प्रसूता धेनु, वात्सल्य से उद्वेलित होकर अपने स्तनों में धवल दुग्ध का निर्झर लिये अधीर होती है, उसे देने के लिये। उसका स्वान्तः सुख वातसल्य की तृप्ति है, वत्स को दुग्ध पिला देने में है।

अथवा जैसे गगन-गामी गिरिवरों की कठोर-कुक्षि से बाहर आने के लिये विक्षुब्ध निर्झर प्रवाह बाहर फूटकर धरा के अंचल को हरित बना देने के हेतु विह्वल होता है, और जब वह पर्वतीय सजलता के अज्ञात प्रदेश से ज्ञात प्रदेश में, अन्धकार के आवरण से प्रकाश के मुक्त क्षेत्र में, अनुपयुक्त स्थान से उपयोग के विशाल प्रांगण में आते ही खिल-खिलाकर हँस पड़ता है तो उसकी उज्ज्वल कल-कल मुसकान के उपवन में अनेक मुर्झाए चेहरे, दबे अंकुर, तप्तधरा, सब खिल उठते हैं।

इसी में है उसका स्वान्तः सुख। इसी प्रकार का अन्तः सुख—गोस्वामी तुलसीदास का है। उनके अन्तर्जगत में इस बाह्य जगत् की पीड़ा के बादल उमड़-घुमड़ रहे थे। तुलसी का वात्सल्य पयोधर करुणा के जल से भरा झुक आया था बरसने के लिये।

वे देख रहे थे—समष्टि रूप से देश की पराधीनता का पाप, और व्यष्टि रूप से उस पाप के प्राणान्तक परिणाम—घोड़े पर चढ़ना, अच्छे कपड़े पहनना, हथियार बांधना हिन्दू के लिये वर्जित था।

ब्राह्मणों के यज्ञोपवीत तोड़ने, उनके मुख में विधर्मियों द्वारा थूकने, काजी के पास घसीट कर ले जाने, उन्हें पीटने की घृणित घटनाएं होती रहतीं। १६वीं शती के 'विजय गुप्त' कवि ने अपने 'पद्मपुराण' में तथा जयानन्द ने 'चैतन्य मंगल' ग्रन्थ में इन घटनाओं का वर्णन किया है। जिस घर में शंखध्वनि सुनाई पड़ती, उसका धन प्राण ले लिये जाते, जाति नष्ट कर दी जाती, माथे का तिलक और कन्धे पर जनेऊ देखकर घरबार लूटे जाते तब तुलसी के मृदुल मानस में मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम का तेजस्वी चरित्र उदित हुआ, जिसने आदर्श की रक्षा के लिये विशाल साम्राज्य त्यागकर प्रलोभन से मुक्त होकर बनवास का सहर्ष वरण किया और जिसने एक सीता का अपहरण करने वाले की लंका फूंक दी, त्रैलोक्य विजेता धर्मद्रोही राक्षसराज रावण के कुल में कोई रोने वाला न छोड़ा। ग्रन्थकार के जीवन का यही रस था, उनके जीवन की साधना का यही फल था, जो लोकभाषा के विविध छबीले छन्दों में रामचरित मानस बनकर फूट पड़ा। उन्होंने स्वयं कहा है—

चली सुभग कविता सरिता-सी, राम विमल जस जल भरिता—सी।

देश काल के अनुरूप, समाज के लिये, घर-घर के लिये जन-जन के लिये राम रसायन प्रदान किया, इसी में था उनका

स्वान्तः सुख। यही सुख उनके ग्रन्थ ग्रथन का मूल प्रयोजन है।

'स्वान्तः सुखाय' यह पद जिस श्लोक का अंश है, वह एक सन्दर्भ-सूची की ओर संकेत करता है। पूरे श्लोक को देखें—

नाना पुराण-निगमागम सम्मतं यद् रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि।
स्वान्तःसुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा—भाषा निबन्धमति मञ्जुलमातनोति।।

इस श्लोक में तीन महत्वपूर्ण अंश हैं। प्रथम अंश है—रामायण में नाना पुराण निगमागम सम्मत भाव। यह है शास्त्र-सम्मत बात' इसके बिना ग्रन्थ, पण्डित-मण्डली में मान्य नहीं हो सकता। कहा है—

जो प्रबन्ध बुध नहि आदरहीं, सो श्रम वादि बाल कवि करहीं।

श्लोक का दूसरा अंश है 'क्वचिदन्यतोऽपि' यह है सन्त मत जिसे गोस्वामी जी ने मानस के विविध स्थलों पर व्यक्त किया है जैसे—

एहि महँ रघुपति नाम उदारा
अति पावन पुरान श्रुति सारा।
मंगल भवन अमंगल हारी
उमा सहित जेहि जपत पुरारी।

भनिति विचित्र सुकवि कृत जोऊ
राम नाम बिन सोह न सोऊ।
विधु वदनी सब भांति संवारी
सोह न वसन बिना वर नारी।

सब गुन रहित कुकवि कृत बानी
राम नाम जस अंकित जानी।
सादर कहहिं सुनहिं बुध ताही
मधुकर सरिस सन्त गुन ग्राही।

यह है सन्तों का मत, सन्तों की रीझ-बूझ। श्लोक का तीसरा अंश है—अति मञ्जुल भाषा-निबन्ध की स्वीकृति। यह है लोक सम्मत बात। इस प्रकार शास्त्र-सम्मत,सन्त-सम्मत, लोक सम्मत—इन तीनों के मधुर समन्वय में तुलसी का बल है लोक भाषा के द्वारा लोक-हृदय में निखिल भारतीय संस्कृत वाङ्मय के समग्र समन्वय की मंगलमयी आभा को भर देने में तुलसी का स्वान्तः सुख सार्थक होता है। इस श्लोक-सन्दर्भ से अलग करके स्वान्तः सुख का अर्थ लगाना समुचित नहीं है।

स्वान्तः सुखाय पद की एक और भी ध्वनि है। वह ध्वनि है, तात्कालिक काव्य लक्ष्य की मौन प्रताड़ना। सन्त कवि तुलसी के अभिमुख कुछ कवि ऐसे थे जिनके लिये राजाश्रय, काव्य कीर्ति का कलश था। उनकी कविता की सफलता का चरम विन्दु था राज सम्मान। साथ ही कुछ कवि केसरी ऐसे भी थे जो प्रजापीडक, आर्य मर्यादा दूषक शासकों से कोसों दूर रहते थे, पर ऐसे कुछ विरले ही कवि थे, सामान्य कवियों के लिये तो राज दरबार इन्द्र का सिंहासन था।

तुलसी के पूर्व, कवीर ने अपनी वाणी में समाज सुधार, अन्ध विश्वास का विरोध और हिन्दू-मुसलमानों में परस्पर सौहार्द के भाव जगाये, अन्ध विश्वासों को ध्वस्त करने एवं

समाजगत रूढ़ियों के ढाँचे को ढहाने के लिये उन्होंने अपनी बाणी की पैनी छैनी के कस कस कर वार किये पर उनका वह प्रहार शास्त्र सम्मत न होकर परिस्थिति-प्रेरित था। उन्होंने देखा था—हिन्दू मूर्त्ति पूजक हैं, मुसलमान हैं मूर्त्ति भञ्जक। दोनों में संगति बिठाने के लिये उन्होंने मूर्त्ति पूजा की खिल्ली उड़ायी और परमात्मा को आकारहीन बताया। जिस मूर्त्ति में कलाकार की कमनीय साधना का मधुर आकर्षण था, रागात्मक वृत्तियों को जगाने की जिसमें क्षमता थी, आर्य हृदय की सुदृढ़ आस्था के केन्द्र, मनीषियों की दृष्टि में प्रमाण कोटि में मुकुट मणि वेदों के मनोज्ञ एवं मंगलमय मन्त्रों के द्वारा जिस मूर्ति में प्राण प्रतिष्ठा का भाव भरा गया था, उस मूर्ति की अपेक्षा कबीर ने चक्की पूजने का परामर्श दिया। पेट भरने के लिये आटा पीसने वाली चक्की पूजी जायगी तो समाज में वे सम्पूर्ण साधन, साध्य के सिंहासन पर जा बैठेंगे जिनसे पेट भरे। स्वार्थ परायण प्राणियों ने तो सदा सदा से पेट की ही पूजा की है। प्रसिद्ध सन्त का ऐसा कथन तो उनके उच्छृंखल क्रिया-कलापों के समर्थन में एक प्रमाण पत्र सिद्ध होगा।

कबीर, रामनाम की महिमा बड़ी श्रद्धा और विश्वास से गाते हैं, पर उसमें भी उन्हें भय था कि कहीं मेरे रामनाम का सम्बन्ध, दाशरथि राम से न जोड़ दिया जाय अतः उन्होंने यह कहना आवश्यक समझा—राम नाम का अर्थ है आना—मेरा राम तो अलख निरंजन एक अलग ही है।

कबीर के सामने समस्या थी, संस्कृत-पण्डितों की, वे लोक-

श्रद्धा के केन्द्र थे, उनके सामने कबीर-वाणी लोकमान्य कैसे हो सकती थी ? अतः उन्होंने कहा—'पण्डित वाद वदन्ते झूँठा'। पण्डितों को विवेकहीन और रहस्य से अनभिज्ञ सिद्ध करने के लिये उलट बासियाँ सुना सुनाकर लोक में यह धाक जमाने का प्रयत्न किया कि जो हम जानते हैं, वह पण्डित नहीं जानते। दूसरों को मूर्ख बताकर अपने आपको पण्डित बताने वाला दम्भ के शिखर पर चढ़े बिना नहीं रह सकता। ऐसे व्यक्ति का कथन पूर्ण सत्य से सदा दूर रहेगा।

उधर कुछ सुर भारती के मूर्धन्य पण्डित भी राजदरबारों की ओर ललचाई दृष्टि से देखते थे। पण्डितराज जगन्नाथ जैसा संस्कृत का उद्भट विद्वान, प्रतिभा का अद्भुत धनी, अहं के उत्तुङ्ग शिखर पर बैठने वाला, विविध शास्त्र पारंगत सत्कुलीन ब्राह्मण भी दिल्ली सल्तनत के शाह, शाहजहां के दरबार में पहुँचकर अपने आपको धन्य धन्य मानने लगा था। उन्होंने अपने 'भामिनी विलास' नामक ग्रन्थ में इसका उल्लेख बड़े गौरव के साथ किया है—

दिल्ली वल्लभ पाणि पल्लव तले नीतं नवीनं वयः

ऐसे रस लेकर बोल रहे हैं जैसे राधावल्लभ के मृदुल पाणि पल्लव से लेकर नवनीत का रसास्वादन कर रहे हैं। कहते हैं—'मैंने दिल्ली वल्लभ के पाणिपल्लव की छाया में नूतन अवस्था बिताई।'

अपने 'रस गङ्गाधर' ग्रन्थ में 'आक्षेप' अलंकार का स्वरचित उदाहरण देते हुए वे कहते हैं—

सुराणामारामादिह झगिति झञ्झानिलहताः,
पतेयुः शाखीन्द्रा यदि तदखिलो नन्दति जनः ।
किमेभिर्वा कार्यं शिव ! शिव ! विवेकेन विकलै-
श्चिरं जीवन्नास्तामधिधरणि दिल्लीनरपतिः ।

'देवताओं के नन्दन कानन से यदि झंझावात के वेग से पारिजात, कल्पवृक्ष आदि विशाल विटप उखड़कर धरती पर आ गिरें तो निखिल जन आनन्दित हो जायें । अथवा शिव, शिव, इन विवेकहीन जड़ वक्षों से क्या करना, पृथ्वी पर दिल्ली नरेश जीवित रहे ।'

अलंकारों के प्रकरण में 'द्वितीय प्रतीपालंकार' के उदाहरण में बोले—

माहात्म्यस्य परोऽवधिर्निजगृहं गम्भीरतायाः पिता—
रत्नानामहमेक एव भवने को वा परो मादृशः ?
इत्येवं परिचिन्त्य मास्म सहसा गर्वान्धकारं गमो
दुग्धाब्धे ! भवता समो विजयते दिल्लीधरावल्लभः ।

'अरे ओ क्षीरसागर ! तू यह समझकर, अभिमान के अन्धकार में मत डूब कि मैं माहात्म्यं की उत्कृष्ट अवधि हूँ, गम्भीरता का निजी भवन और रत्नों का एक मात्र जनक हूँ, मेरे समान दूसरा कौन है ? क्योंकि तेरे समान दिल्ली धरा का वल्लभ शाहजहाँ मौजूद है ।'

पण्डितराज ने शाहजहां के पुत्र 'दारा शिकोह' की प्रशंसा में 'जगदाभरण' ग्रन्थ लिखा । नवाब आसफ खां की कीर्ति कथा

में 'आसफ विलास' लिखा। आसफ-श्लाघा का एक उदाहरण देखिये—

सुधेव वाणी वसुधेव मूर्त्तिः सुधाकरश्रीसदृशी च कीर्त्तिः,
पयोधिकल्पा मतिरासफेन्दो मंहीतलेऽन्यस्य नहीति मन्ये।

"आसफेन्दु की वाणी, सुधा तुल्य है, मूर्त्ति वसुधा समान, कीर्ति, सुधाकर की छवि जैसी और उनकी मति, पयोधिकल्प है, महीतल पर अन्य में ये बातें नहीं है, मैं ऐसा मानता हूं"। यह है पण्डितराज जगन्नाथ की मान्यता का मानदण्ड ! इस पर भी वे अपनी कविता की प्रशंसा में कहते हैं—

आमूलाद् रत्नसानो र्मलयवलयितादाच कूलात् पयोधे—
र्यावन्तः सन्ति काव्यप्रणयनपटवस्ते विशङ्क वदन्तु।
मृद्वीका मध्य निर्यन्मसृण रसझरी माधुरी भाग्य भाजां
वाचा माचार्यतायाः पदमनुभवितुं कोऽस्तिधन्यो मदन्यः ?

"रत्नशिखर वाले सुमेरु पर्वत की तलहटी से लेकर मलय पर्वत से वेष्टित पयोधि तट तक जितने काव्य प्रणयन में प्रवीण कवि हैं, वे निःशङ्क होकर बतायें कि क्या अंगूर से निकलने वाली चिक्कण रसधारा की माधुरी से स्निग्ध रचनाओं में आचार्य पदवी का अनुभव करने वाला मुझे छोड़कर अन्य कौन कवि धन्य है ?" अर्थात् मेरे जैसा सरस कविता करनेवाला कोई दूसरा है नहीं, धन्य हूं मैं।

यद्यपि पण्डितराज आस्तिक हैं, उन्होंने गङ्गा की स्तुति में गंगा लहरी लिखी है 'रस गङ्गाधर' ग्रन्थ के आरम्भ में श्रीकृष्ण

की बड़ी मनोरम वन्दना की है, कृष्ण नाम की महिमा में कहा है—

मृद्वीका रसिता सिता समशिता स्फीतं निपीतं पयः,
स्वर्यातेन सुधाऽप्यधायि कतिधा रम्भाधरः खण्डितः।
तत्त्वं ब्रूहि मदीय जीव! भवता भूयो भवे भ्राम्यता,
कृष्णेत्यक्षरयोरयं मधुरिमोद्गारः क्वचिल्लक्षितः ?

"हे मेरे जीवात्मन्! तुमने अंगूरों का रस लिया है, मिश्री भी अच्छी तरह खाई है और दूध भी खूब पिया है, स्वर्ग में जाकर सुधा का भी पान किया है, रम्भा अप्सरा के अधरों को भी खण्डित किया है, अब सच सच बताओ, संसार में बहुत घूमते हुए तुमने 'कृष्ण' इन दो अक्षरों में जो मधुरिमा का उभार है, वैसा कहीं अन्यत्र देखा है? ओह, यह लोकोत्तर माधुरी अन्यत्र कहां हो सकती है।" यह है श्रीकृष्ण नाम के प्रति उनका अमूल्य भावोदय! फिर भी हम उन्हें कृष्णोपासक नहीं कह सकते, क्योंकि इस पद्य की रचना, स्वतः सम्भवि वस्तु ध्वनि से ध्वनित अतिशयोक्ति अलंकार के हेतु की है। कोई भी उपासक नाम महिमा को अतिशयोक्ति मानने को तैयार नहीं है। इस पवित्र नाम महिमा में भी ये अपनी रसलोलुपता का परिचय दिये बिना नहीं रह सके। स्वर्गीय सुधा पान के पश्चात् भी 'रम्भाधरः खण्डितः' कहना नहीं भूले। इतना ही नहीं, वैयाकरण शिरोमणि भट्टोजि दीक्षित के वे कटु आलोचक थे, उनकी पुस्तक है 'प्रौढ मनोरमा'। इस ग्रन्थ के खण्डन में

पण्डितराज जगन्नाथ ने एक छोटी सी पुस्तक लिखी 'मनोरमा कुच मर्दिनी'। यह उनकी मनोवृत्ति की ही व्याख्या है।

लगे हाथ एक अन्य राजाश्रित संस्कृत विद्वान की भी चर्चा कर लें, वे हैं–श्री हर्ष। उस समय दिल्ली का शासन पृथ्वीराज के हाथ में था। उसके प्रतिद्वन्द्वी थे कन्नौज के नरेश। कन्नौज नरेश जय चन्द को कौन नहीं जानता ? जयचन्द, माहिल, मीर जाफर ऐसे नाम हैं जो भारतवर्ष के इतिहास में मोटी कलम से काली स्याही में लिखे गये हैं। उस जयचन्द की सभा में पण्डितों के अध्यक्ष थे श्री हर्ष पण्डित। इन्होंने 'चिन्तामणि' मन्त्र के अनुष्ठान से भगवती शारदा के द्वारा लोकोत्तर वाग्वैभव प्राप्त किया था, अपने समय का उद्‌भट महा पण्डित था। वेदान्त के योद्धाओं के लिये इसने 'खण्डन खण्ड खाद्य' नामक विकट ग्रन्थ लिखा। काव्य रसिकों के हेतु 'नैषध महाकाव्य' की रचना की और जो अपने समय के सभी कवियों को पत्थरों के टुकड़े बताकर अपने आप को कौस्तुभ मणि बताता था, उसने जयचन्द की प्रशस्ति में लिखा है–

—भूपाना मवतीर्ण एष भुवनोद्धाराय नारायणः

'वसुन्धरा के उद्धार हेतु राजाओं में साक्षात् नारायण का अवतार था'। नैषध के अन्त में अपनी श्लाघा में श्लोक लिखते हैं–

ताम्बूल द्वयमासनं च लभते यः कान्यकुब्जेश्वराद्
यः साक्षात्कुरुते समाधिषु परं ब्रह्म प्रमोदार्णवम्।
यत्काव्यं मधुवर्षि, धर्षित परास्तर्केषु यस्योक्तयः
श्री श्रीहर्ष कवेः कृतिः कृतिमुदे तस्याभ्युदीयादियम्।

'कान्यकुब्जेश्वर जयचन्द से आसन और पान के दो बीड़े प्राप्त करता है और जो समाधियों में आनन्दार्णव परब्रह्म का साक्षात्कार करता है, जिसका काव्य, मधुवर्षण करता है, तर्कों में जिसकी उक्तियाँ, विरोधियों को धर्षित करती हैं उसी श्री श्री हर्ष कवि की यह कृति, विद्वानों को प्रमोद प्रदान करने वाली हो।'

कैसे आश्चर्य की बात है! जो विद्वानों को नीचा दिखाने में अपने तर्कों का प्रयोग करता हो! जो निकृष्ट शासक के हाथ से पान के बीड़े पाकर फूला न समाये वह भी ब्रह्म का साक्षात्करता है, समाधि में डूबता है!

—अहो मोह बिडम्बना!
—गर्वगर्त गतानांहि गर्हिता वाग्विवर्तता

इन एक दो प्रतिनिधि कवियों की बानगी से ही अध्ययनप्रिय पाठक भलीभाँति जान गये होंगे कि उस समय की कविता का लक्ष्य क्या था। वास्तव में 'कवि' का अर्थ होता है, दूरदर्शी, क्रान्तिदर्शी। उसके लिये प्रसिद्ध है–'जहां न जाय रवि वहां जाय कवि।' 'कविरन्यः प्रजापतिः' कहकर उसे रचनाचतुर चतुरानन के समकक्ष बिठाया है। उपनिषद ने कवि शब्द से परमात्मा को अभिहित किया है–'कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः' ऐसे महान् शब्द का बिल्ला लगाकर जब कोई कवि या साहित्यकार लुटेरों को उदार शिरोमणि, विलासियों को तपस्वी, जनता को–गुलामी के शिकंजे में जकड़ने वालों को जनता के सेवक, निरंकुशों को अनुशासन-प्रिय एवं धर्मविरोधियों को धर्मावतार कहकर पदलोलुपों की प्रशस्ति गाता है तो उसे रावण-सभा का चारण-

भाट ही कहा जायेगा, तथा शारदा के [illegible] को उन्मत्तों के

धूसर पैरों में घुँघरू बनाकर बाँधने वाला ही माना जायगा।

इस प्रकार अपने आश्रयदाताओं की प्रशंसा में अपनी सारी प्रतिभा, अपना सारा दीन-ईमान लगा देने में कृतकृत्य होनेवाले महा पण्डितों की रचनाएँ गोस्वामी तुलसी दास जी के दृष्टि-गोचर या श्रवण गोचर अवश्य हुई थीं, ऐसा हम मानते हैं। इसीलिये उन्होंने कहा है—

> **कीन्हे प्राकृत जन गुन गाना,**
> **सिर धुनि गिरा लगति पछिताना।**

गोस्वामी तुलसीदास ने प्राकृत शब्द का दो अर्थों में प्रयोग किया है। एक अर्थ है 'तुच्छ' दूसरा है 'प्राकृत भाषा'। जैसे—

> **जे प्राकृत कवि परम सयाने,**
> **भाषा जिन्ह हरि चरित बखाने।**

यहाँ प्राकृत कवि का अर्थ है प्राकृत भाषा के कवि। किन्तु प्रकृत प्रसंग गत-प्राकृत जन गुनगाना में प्राकृत का अर्थ है 'तुच्छ'। तुच्छ मनोवृत्ति के लोगों की प्रशंसा में जो कवि अपनी श्रेष्ठ वाणी का दुरुपयोग करते हैं तो भगवती शारदा अपना सिर धुनने लगती है। इसका अर्थ है शारदा अपने ललाट को नहीं पीटती अपितु कवि के ललाट में लिखे मंगल लेख को मिटा देती है। कहते हैं अकबर के दरबार में 'गंग' एक श्रेष्ठ कवि थे। उनके एक छन्द पर रीझ कर रहीम खानखाना ने ३६ हजार रुपये दिये थे। एक बार उसके एक छन्द में कुछ

शाहंशाह अकबर की तौहीन समझी गयी तो उसे हाथी के पैरों तले कुचलवा दिया था। जीवन भर प्रशंसा करता रहा, एक बार थोड़ी-सी शाब्दिक भूल के कारण मौत के घाट उतार दिया गया। यह सरस्वती का शाप नहीं तो और क्या है ? गोस्वामी जी अपने राम की मस्ती में गाते हैं—

तीन टूक कोपीन के, अरु भाजी बिन लौन,
'तुलसी' रघुवर उर बसें, इन्द्र बापुरो कौन ?

भागवत में कहा है—

यथा तरो मूलनिषेचनेन तृप्यन्ति तत्स्कन्ध भुजोपशाखाः।
प्राणोपहाराच्च यथेन्द्रियाणां, तथैव सर्वाहिण मच्युतेज्या॥ ४-३१-१४

'जिस प्रकार वृक्ष की मूल सींचने से, उसका तना उसकी शाखा उपशाखाएँ हरी भरी हो जाती हैं, तथा जैसे प्राणों के पोषण से सम्पूर्ण इन्द्रियों का पोषण हो जाता है उसी प्रकार एक अच्युत के अर्चन से सम्पूर्ण प्राणियों की अर्चा हो जाती है'।

गोस्वामी जी ने दोहावली में कहा है—

पात पात को सींचिबो, बरी बरी को लोन।
तुलसी खोटे चतुरपन, कलि डहके कहु को न ?

अतः अन्त में हम यही कहेंगे कि—जिसने सागर में डुबकी लगाली उसने सम्पूर्ण नदियों में स्नान कर लिया, जिसने अमृत पान कर लिया उसने विश्व की मधुरातिमधुर मिठाइयों का स्वाद ले लिया।

एक शायर कहता है—

जिसको तुम भूल गये, याद उसे कौन करे।
जिसको तुम याद हो वह और किसे याद करे ?

चरित्र की चारुता

व्यक्ति या समाज का चरित्र ही उसका अमर इतिहास है, उसकी अक्षय कीर्ति है। शरीर का, प्राणों का, मन-बुद्धि का मक्खन है चरित्र। 'राम चरित मानस' का तो वह प्राणस्वर है, महत्वपूर्ण मर्म है।

चरित्र शब्द में अर्थ का अद्भुत वैशिष्ट्य है। यह निष्पन्न होता है 'चर् गति भक्षणयोः' धातु से। धातु के दो अर्थ बताये गये हैं—गति और भक्षण। चरति का अर्थ होगा, चलता है या भक्षण करता है। चरित्र शब्द में धातु का अर्थ 'गति' है, पर इस 'गति' अर्थ को आचार्य पाणिनि ने, एक विशिष्ट गति प्रदान की है। उन्होंने एक सूत्र द्वारा करण कारक में 'इत्र' प्रत्यय जोड़कर चरित्र शब्द की निष्पत्ति की-चरति अनेन इति चरित्रम्, जिससे मानव गतिशील होता है, उसे कहते हैं 'चरित्र'। निःसन्देह इसका अर्थ, सामान्य चलना नहीं है। मनुष्य सवारी से चलता है, पैरों से चलता है, लाठी टेककर चलता है पर वह सब 'चरित्र' नहीं कहला सकता; तब इसका सही अर्थ क्या है ? हम समझते हैं, लोक या समाज की दृष्टि से चरित्र चर्चित 'गति' का अर्थ होगा, जिससे मानव चल रहा है, क्रियाशील है, हिम्मत हार कर बैठ नहीं गया है वह है गति। या जिसके बल पर कोई अविचल भाव से जीवन के लक्ष्य-मार्ग पर चलता है, वह गति, जिसकी

स्फूर्ति से, जीवन लीला के विराम लेने पर भी मानव की अमर

प्रेरणाएँ, जगत के जीवों को जीवन देती रहती हैं, जगत् के इतिहास में उसका अस्तंगत रूप भी नाम के रूप में चलता रहता है जिस चरित्र से पुरुष का सन्देश, शाश्वत बनकर गूँजता रहता है—संगीतज्ञों की वीणा में, महाकवियों की वाणी में, आकार लेता रहता है, कलाकार की तूलिका में, शिल्पियों की शिल्पकला या मूर्त्ति कला में; सौरभ बनकर बस जाता है, देश की सभ्यता और संस्कृति के प्राणों में और झाँकता रहता है, प्रति प्रथा प्रति परम्पराओं के प्राङ्गण में; सार्थक अर्थ होगा इस चरित्रगत गति का।

वैसे प्रचलित रूप में कामवासना पर नियन्त्रण रखने वाली संयमशीला मनोवृत्ति का नाम है चरित्र। शास्त्रों के आदेश, सन्तों के उपदेश उसी मनोवृत्ति को सबल एवं उज्ज्वल बनाने का प्रयास करते हैं। पर जहाँ नियन्त्रण होता है, वहाँ प्रयत्न परिलक्षित होता है और जहाँ प्रयत्न है, वहां नियन्त्रण स्वभावगत नहीं होता, आगन्तुक होता है।

नहर का प्रवाह, प्रयत्न सापेक्ष होता है, नियन्त्रण-सापेक्ष होता है। उसके प्रवाह को जब चाहे तब कम या अधिक किया जा सकता है पर गंगा, यमुना, सिन्धु, ब्रह्मपुत्र आदि महानदियों का प्रवाह सहज होता है, प्रेरणा सापेक्ष नहीं। उसी प्रकार जिस महापुरुष की इन्द्रियों का प्रवाह, स्वतः अभीष्ट दिशा की ओर होता है, जिसे केवल शास्त्रों का भय, लोक-परलोक का ताड़न संयत नहीं रखता, वहां होता है चरित्र स्वभावगत, वह उसका

गुण होता है। [illegible] महापुरुषों का निर्मल मानस चारित्र्य की जन्मभूमि होता है, वहीं से उसकी शीतल रश्मियाँ फूटती हैं, जिनसे समीपवर्ती लोग भी उनकी आभा से विभूषित हो जाते हैं।

योगसूत्र में एकमहत्वपूर्ण तथ्य आता है—

अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः

जिस शमशील महामना के मन में अहिंसा की प्रतिष्ठा हो जाती है उसकी सन्निधि में आने वाले विरोधियों की भी विरोध भावना चली जाती है।

—रहहिं एक संग गज पंचानन

इसी प्रकार जिसके हृदय-भवन में चरित्र की प्रतिष्ठा हो जाती है, चरित्र जिस हृदय का देवता बन जाता है, उसके सम्पर्क में आने वाले लोग भी उसके चुम्बकीय आकर्षण में आये बिना नहीं रहते। जहां चरित्र आगन्तुक होता है, मौके-मौके का मेहमान होता है, ऐसा व्यक्ति चाहे कितना ही बड़ा उपदेशक या सुधारक हो, वह अपने उद्देश्य में कभी सफल नहीं हो सकता। भले ही वह, समाज राष्ट्र या विश्व को अज्ञान-सागर, मोहनदी अथवा गरीबी के गर्त से बाहर निकालने की बात बड़े जोशीले भाषणों में कहता हो पर यदि वह अपने पुत्र, को आश्रित को, या अपने साथियों को नशा की दशा में गन्दी नाली के नारकीय घृणित पानी में से नहीं निकाल सकता, तो जो अपने आत्मा के अभिन्न रूप आत्मज को अपने अनुगामियों को उचित दिशा नहीं दे सकता वह देश को उचित मार्ग क्या बतायेगा ? उसके अनुगमन

का नाट्य देखने वाले मार्गच्युत लोग समाज का क्या सुधार करेंगे ?

वस्तुतः समाज के अन्तराल में कोई उपदेश तब उतरता है जब उपदेश अच्छा हो, उपदेश देने वाला अच्छा हो और उपदेश देने का अवसर अच्छा हो। यदि कोई चोर कहता है 'चोरी करना बुरा है' बात अच्छी है पर बात कहने वाला अच्छा नहीं। यही सोचकर पूज्य गोस्वामी ने 'रामचरित मानस' की रचना की। उसमें श्री राम अच्छे, उनकी बातें अच्छीं और उनकी बातों का अवसर सदा अच्छा तथा उन सबको लोक भाषा में गूँथने वाले सन्त तुलसी अच्छे।

आइये 'मानस' के मर्यादामय मञ्च पर दर्शन करें और उन पुण्य चरित्रों की चर्चा-चन्दन से अपने चित्त को चर्चित करें।

मानस में मूलतः चरित्र के गगनस्पर्शी दो प्रकाश स्तम्भ हैं श्रीराम और सीता। युगल चरित्र की चारुता, मानस-सरोज का अक्षय सौरभ है। उन्हीं के चतुर्दिक् मानस के सम्पूर्ण पात्र भ्रमर-वत् भ्रमण करते हैं। पूज्य कवि उनकी वन्दना करते हैं—

सीय राम मय सब जग जानी।
करहुँ प्रनाम जोरि जुग पानी।

अयोध्यावासी, विश्वनिवासियों को विश्वास दिलाते हैं—

सीता राम संग बनवासू।
कोटि अमर पुर सरिस निवासू।

इसी युगल छवि से छविमान है भरत का वैशिष्ट्य—

भरत हृदय सिय राम निवासू

गोस्वामी जी जब सारे जगत् को 'सीयराममय कहते हैं, केवल राममय नहीं तब उनका एक विशिष्ट अभिप्राय है। क्योंकि सृष्टि की दृष्टि से विश्व में दो हैं—प्रकृति और पुरुष, काल की दृष्टि से दो भाग हैं दिन और रात, व्यक्ति की दृष्टि से दो हैं—स्त्री-पुरुष। सम्पूर्ण जड़ जगत् भी इन्हीं दो भागों में विभक्त है।

शिवपुराण में इस तथ्य को बड़े सुन्दर रूप में व्यक्त किया है—

> शंकरः पुरुषाः सर्वे, स्त्रियः सर्वा महेश्वरी।
> सर्वे स्त्रीपुरुषास्तस्तमात् तयोरेव विभूतयः॥—वा० १४

सम्पूर्ण पुरुष शिव रूप और सम्पूर्ण स्त्रियाँ उमा रूप हैं, यह कहकर विभूति-वस्तुओं की सूची दी है—

शिव विषयी, विषय उमा, श्रवण योग्य शब्द उमा, श्रोता शिव, पूछने योग्य वस्तु शंकर वल्लभा और पूछने वाला है शिव, देखले योग्य वस्तु समूह है शिवा और द्रष्टा हैं चन्द्रमौलि। रस है उमा रसयिता है शंकर, मननीय वस्तु हैं महेश्वरी, मननकर्ता शिव, बुद्धि का विषय है शिवा उसके बोद्धा हैं गिरीश, प्राणों को अनुप्राणित करने वाली जलरूपा हैं पार्वती तो प्राण रूप हैं शिव। क्षेत्र है गिरिजा क्षेत्रज्ञ है शिव, दिन हैं शंकर रात्रि है गौरी, शंकर हैं आकाश पार्वती हैं पृथ्वी, वृक्ष हैं शिव, लता है भवानी, शब्द है शिवा अर्थ है अर्धनारीश्वर।

इसी तथ्य को हृदयङ्गम कर मानव-मानस के मर्मज्ञ महात्मा जी मानस में कहते हैं—

गिरा अर्थ जल बीचि सम, कहियत भिन्न न भिन्न,
बन्दों सीता राम पद, जिन्हहि परम प्रिय खिन्न।

दोहे का अन्तिम चरण ध्यान देने योग्य है। प्रभु को 'खिन्न' 'परम प्रिय' हैं, इसका आशय क्या है ? क्या भगवान चाहते हैं कि सारी दुनियाँ खिन्न रहा करे, प्रभु को प्रसन्न मुख प्रिय नहीं हैं ? क्या प्रभु की परम प्रियता प्राप्त करने के हेतु हर आदमी को मुँह लटकाये रहना चाहिए ? सदा प्रसन्न रहें केवल राम और सदा उदास रहें सम्पूर्ण मनुष्य ? नहीं, बात ऐसी नहीं है। प्रभु को खिन्न, दीन क्यों प्रिय हैं, इसका कारण है। संसार में अधिकांश में देखा यह जाता है कि जिन लोगों में बाहुबल है, मदोन्मत्त हैं, उनमें चार बातें नहीं होतीं, नम्रता, कष्ट सहिष्णुता, दीनों के प्रति प्रेम तथा ईर्ष्या का अभाव।

जो किसी के सामने नम्र नहीं होता, वह फलहीन डाली की तरह उद्धत होता है। जो कष्ट नहीं सह सकता वह दूसरों के कष्ट सहायक कैसे हो सकता है ? ऐसा व्यक्ति, अपने को कष्ट से बचाने के लिये बेच देता है अपना दीन-ईमान। और जिनके मनमें दीन-हीनों के प्रति सहानुभूति नहीं है, वे निष्करुण होंगे, जो निर्दय व्यक्ति है वह समाज में शोषण का पोषण करेगा। वे लोग, दूसरों को सुखी नहीं देख सकते, उनके हृदय में मन्थरा की मनोवृत्ति जागरूक रहेगी—

होइ अकाज कवन विधि राती

इसलिये इस दोहे में खिन्न का अर्थ है दीन, जिनमें दैन्य है, उनमें नम्रता आदि सब गुण होते हैं, वे ही प्रभु के मर्यादा मार्ग

पर चलने के हकदार होते हैं। मर्यादा का मार्ग, कष्ट सहिष्णुता का मार्ग है । उसपर चलने वाले दीन, दुनियाँ के दैन्य को दूर कर शूरता का परिचय मानस में जिस तपःपूत ऋषि ने, शरीर-विकारों के सरदार रतिपति के शरों को भङ्ग कर दिया था, मनोज के तीर, विषय की पीर पैदा नहीं कर पाये थे, वह ऋषि 'शरभङ्ग' जैसी सबल संज्ञा से विभूषित हुए थे पर श्री राम के मिलन पर उन्होंने अपने आपको दीनों की पंक्ति में खड़ा किया था—

नाथ सकल साधन मैं हीना ।
कीन्ही कृपा जानि जन दीना ।।

ऐसे दीन प्रभु को परमप्रिय हैं, क्योंकि ऐसे लोग ही प्रभु के अवतार-प्रयोजन को पूरा करने में पूरे सहायक होते हैं, प्रभु की परम्पराओं के पालक होते हैं, प्रभु परम्परा का मार्ग प्रभुधाम का राजमार्ग है ।

दुनियाँ के लोग दीनों की ओर देखा भी नहीं करते जिसपर दुनियाँ की दृष्टि नहीं जाती, उसको देखती हैं प्रभु की करुणा-मयी आँखें, इसीलिये 'रहीम' कहते हैं—

दीन सबन्हि को लखत है, दीनहि लखे न कोइ,
जो 'रहीम' दीनहि लखे, दीन बन्धु सम होइ ।

ऐसे हैं दीनों पर द्रवित होने वाले श्री सीताराम । यों तो वे अनन्त—कल्याण गुणों के रत्नाकर हैं, पर चरित्र के तो अद्वितीय देवता हैं, इस धरती ने इसके पूर्व चरित्र की ऐसी मधुराकृति कभी नहीं देखी, सम्पूर्ण मानवों के लिये आधार है वह, धरती-

जैसा, अनन्त उत्थान का अवकाश है, आकाश-जैसा।

सीता का चरित्र, नारी-मर्यादा के माथे की अक्षय सिन्दूर-रेखा है तो श्री राम का चरित्र, विषय-विमूर्च्छित पुरुष वर्ग के लिये संजीवन बूटी है। मानस के दोनों मूर्धन्य पात्रों की चारित्रिक सम्पत्ति—जन्मजात है। यह तथ्य दोनों के आविर्भाव से ही स्पष्ट है। सब जानते हैं, शिशु का जन्म माता-पिता के योग से होता है और वह योग पवित्र होता है, क्योंकि धर्म से अविरुद्ध काम परमात्मा का रूप माना गया है। फिर भी सन्तान के हेतु माता पिता के मिलने में काम प्रेरणा का निषेध कौन कर सकता है ? पर श्री सीता जी का आविर्भाव उस दोष से भी सर्वथा मुक्त है क्योंकि उनका जन्म संयोग जन्य नहीं था, वे वसुन्धरा के पुण्य हृदय से प्रादुर्भूत हुईं। आदि काव्य में इस तथ्य का उल्लेख कई स्थलों पर किया है। 'भवभूति ने 'उत्तर रामचरित में कहा है—

> उत्पत्ति परिपूतायाः किमस्याः पावनान्तरैः।
> तीर्थोदकञ्च वह्निश्च नान्यतः शुद्धि मर्हतः॥

'सीता तो उत्पत्ति से ही परिपूत है, पवित्र बनाने वाले अन्य साधनों की वहाँ क्या आवश्यकता ? तीर्थों का जल और अग्नि को अन्य पदार्थों से शुद्ध नहीं किया जाता वे तो स्वतः शुद्ध हैं'।

इस प्रकार वसुन्धरा से प्रादुर्भूत होकर श्री राज किशोरी ने अपनी पावनता का महान उद्घोष किया; यह था मूर्तिमान् पुञ्जीभूत चरित्र। ऐसा चरित्र, जिस भूमि को अपनी जन्मभूमि बनाता है वह भूमि भी चरित्र की चारु चन्द्रिका से सारे विश्व को आह्लादित कर देती है।

इस तत्य को एक उदाहरण से समझें—

श्री राम के रूपाकर्षण का सर्वत्र चमत्कार है अयोध्या से लेकर लंका तक, परिजन से लेकर अरिजन तक, गृह प्राङ्गण से लेकर रणाङ्गण तक, रागी से लेकर विरागी तक पुण्यात्मा से पापात्मा तक राम के रूप चन्द्र से आह्लादित होते हैं और जब उस रूप के पीछे साक्षात् भगवान् बैठा है तो उस रूप के आकर्षण का क्या ठिकाना ? वह रूप राशि गयी मिथिला में, मिथिला-जलधि उछल पड़ा, राका मयंक से, राम की छटा से। पूरा नगर श्री राम के रूप से अभिभूत था, क्या नारी क्या नर, क्या बालक और क्या बूढ़े सब पर रूप का जादू था। नारी वर्ग का तो हाल ही अजीब था। मिथिला की महिलाओं ने अपनी विवशता भरी सफाई यों पेश की—

कहहु सखी अस को तनु धारी, जो न मोह यह रूप निहारी।

जब सारी दुनियाँ इनके रूप जाल से मुक्त न हो सकी तो हम तो अबला हैं, हमारी बिसात क्या ?

गोस्वामी तुलसीदास जी, नगर नागरियों की ओर से इसका समर्थन करते हुए बताते हैं कि जिनका प्रत्येक अंग, प्रत्येक चेष्टा, जिसका एक-एक बोल चितवन सब चौर्यकला में चूड़ामणि हैं उसके रूप पर मिथिला की नारी निछावर हो गयीं तो क्या आश्चर्य ?

उसकी आँखें देखिये—

—लोचन सुखद विश्व चित चोरा

उसका हास विलास, बिना मोल के ही मन को खरीद लेता है—

—हास विलास लेत जनु मोला

रघुवीर की नासिका, ऊँची-ऊँची नाक वालों का सर नीचा कर देती है —

—भ्रकुटी कुटिल मनोहर नासा

जब 'नासा—नासिका' मनोहर है, मन को हर लेती है तो भौंहों की तो बात ही छोड़ो। जब सरल-सीधे अंग ही ऐसे-ऐसे काम अपनाये हुए हैं तो भ्रकुटी तो स्वतः कुटिल ठहरी, उनके नीचे छिपी तिरछी चितवन का क्या ठिकाना ? श्रीराम के सुन्दर कानों की शिकायत ही क्या करें जब कानों में लटकते हुए कुण्डल ही कमाल करने में जुटे हैं—

कानन्हि कनक फूल छबि देहीं, चितवत चितहि चोरि जनु लेहीं।

वह चोरी भी कैसी अनूठी ! दुनियाँ के चोर छिपकर चोरी करते हैं पर ये ऐसे हैं कि माल की चोरी नहीं मालिक की चोरी करते हैं। दुनियाँ वाले चोर आँखें बचाकर हाथ साफ करते हैं पर ये तो आँखों में आँखें डाल कर चुरा लेते हैं—

और चोर चित लेत हैं, दृग ओझिल हुइ चोरि,
मन धन चोरत भाव तौं, नयन नयन सों जोरि।

पर श्रीराम तो और भी अदभुत थे, ये आँखें नहीं मिलाते थे, इनकी झुकी आँखों की ओर जिनकी आँखें झुक जाती थीं, वह उन्हें फिर न उठा पाता था, ऐसे थे आकर्षण के सम्राट् और ऐसे थे चरित्र के निष्कलुष चारु चन्द्रमा, किन्तु मिथिला

की मोहनी महिलाएँ भी चरित्र की दृष्टि से तनिक भी हेठी नहीं हैं, लिखा है—

जुथती भवन झरोखनि लागीं, निरखहिं राम रूप अनुरागी।

अनुराग-पराग से पूर्ण था उनका हृदय कमल। वे प्रभु पर निछावर थीं पर उनके अनुराग में कामराग की एक भी झनकार नहीं थी। इसका पता लगता है तब जब वे इस रूपराशि को अर्पित करना चाहती हैं श्री किशोरी को। वे तो अपने मानसिक लोचनों के सामने एक युगल-छवि का चित्र खींच रही थी—

देखि राम छवि कोउ एक कहई, जोगु जानकिहि यह बरु अहई।
कोउ कह जौं भल अहइ विधाता, सब कहं सुनिय उचित फलदाता।
तौ जानकिहि मिलिहि बरु एहू, नाहिन आलि इहां सन्देहू।

वे चाहती हैं, साँवला वर सीता के योग्य है, सीता जी के साथ विवाह हो। अन्त में एक सखी ने विश्वासपूर्ण दृढ़ स्वरों में घोषित किया—

जेहि विरंचि रचि सीय संवारी, तेहि स्यामल बरु रचेउ विचारी।

उनके मन में उस रूप भोग की वासना स्वप्न में भी नहीं है वैसे प्रभु तो प्राणपति, विश्वपति, यज्ञपति एवं लक्ष्मी पति हैं। गोपियों की तरह वे प्रभु श्रीराम को अपना प्राण जीवन, प्राण वल्लभ मानतीं तब भी कोई दोष नहीं था, उनसे सब नाते निभ सकते हैं पर व्यवहार-भवन की चारित्रिक छत गिर जाती।

जैसे कोई व्यक्ति, अति विलोभनीय, सौरभ-भरित रस पूर्ण दिव्य फल को पाकर सौंप दे अपने स्नेह भाजन को, वैसी ही

मनोभूमि है मैथिली-ललनाओं की ।

यही स्थिति है जनक नगर के जन-जन की। आज भी समाज-रचना में देखने को मिलता है कि बड़े-बड़े नगर हैं। एक ही नगर में लड़की का मायका होता है और ससुराल भी। पर मिथिला की बात निराली है, वहाँ की बेटी, पूरे नगर की बेटी है, जहां की बेटी है वहां की वधू भी बने, यह मिथिला का आदर्श नहीं। वहां के सब लोग, सम्पूर्ण पुरुष वर्ग चाहता है—

एहि लालसा मगन सब लोगू, वर सांवरो जानकी जोगू।

कैसा निर्मल निश्छल वात्सल्य-विभूषित भाव रस है: विवाह के अवसर पर एक नयनाभिराम संगम होता है।

दुर्लभ मिथिला में स्वर्ग की सहस्रशः सुन्दरियाँ आती हैं—अम्लान स्वर्ग का सौन्दर्य, कलेवर-लावण्य की छलकती लहरें, दिव्य देह की मदमाती मोहक महक, कौन न बहक जायेगा बावला बनकर। पर उन बनी-ठनी वनिताओं की ओर, जनक नगर के किसी नागरिक ने आँख उठाकर देखा तक नहीं, बातें करना तो दूर। यह थी—स्वर्गीय भोगों पर जनक नगर की चारित्रिक विजय। रावण ने देवों पर तो विजय पायी थी पर वहां की भोगलिप्सा ने उसे पछाड़ दिया। जनकपुर के नरसिंहों ने स्वर्ग के भोगों पर विजय पायी, फलतः उनके नगर में तीनों लोकों के सबल सुभटों के साथ रावण पराजित हुआ था और श्रीराम विजयी हुए थे। भोगी लोग स्वर्ग की दौड़ लगाते हैं, देव वर्ग उनसे घबड़ाता है, पर मिथिला वह है जहां देव और

देवाङ्गनाएँ और [illegible] नारी हैं, [illegible] कोई [illegible]कर दो बातें करने वाला नहीं है। इन्द्रपुरी, ब्रह्मपुरी से जो ज्योतिमयी छबीली ललनाएँ वहाँ आईं तो किसी ने देखा न होगा ? दृष्टि पड़ी होगी पर न बोले न आदर दिया। क्या मिथिला वाले आगन्तुक का सम्मान करना नहीं जानते ? नहीं, ऐसी बात नहीं है। वहां का—शिष्टाचार आज जैसा नहीं है कि महिलाएँ आयें तो उनके सामने पुरुष खीस निपोरें और पुरुष आयें तो घर की महिलाएँ उनका हँस-हँस कर स्वागत करें। वहां तो नारियाँ पहुँचीं तो मिथिला की महिला-मंडली ने हृदय से स्वागत किया। गोस्वामी जी बताते हैं--

> **नारि वेष जे सुरवर वामा, सकल सुभाइ सुन्दरी स्यामा।**
> **तिन्हहि देखि सुख पावहिं नारी, बिन पहिचानि प्रान ते प्यारी।**

एक सुन्दरी, दूसरी अपरिचित सुन्दरी को देखकर, अपनी तुष्टि के लिये अपने जलने वाले 'जी' पर मरहम लगाने के लिये आगन्तुक अंगना के अनवद्य अङ्गों में कुछ न कुछ असुन्दरता की परिकल्पना कर लेती है। यदि आँखें बड़ी-बड़ी हैं तो कहेंगी-- हाय राम, कैसी भंटा-जैसी आँखें फाड़-फाड़ कर देखती है, अगर बाल लम्बे हैं तो कह लेंगीं--ए देखो, बाल हैं कि पानी खींचने के लिए लम्बी-लम्बी रस्सियाँ, मूँड़ पर इतना बोझ ? यदि बोली मीठी है तो उसकी ओर कनखियों से देख-देख आपस में फुस-फुसा लेंगी--मिठ बोली है, भगवान बचावे--

> **—जेनर बोलहिं माधुरी दगा करेंगे अन्त**

पर यहां इस ईर्ष्यालु मनोमालिन्य का सर्वथा अभाव है।

ऐसे हैं, विकसित पुष्प दलों से ललित, अनाघ्रात अछूते पराग-कोश के सदृश जनकपुरी के निष्कलुष नर नारी। फिर ज्योतिर्मय चारित्र्य के विराट कल्पवृक्ष की अमर छाया सीता का तो कहना ही क्या है।

जनकतनया का आश्रय लेकर भविष्य में जितनी घटनाएँ घटीं वे सब उनके चरित्र-चमत्कार को प्रकट करने के साधन मात्र हैं। नारी की पवित्रता को सुरक्षित रखने के लिये प्राचीन काल से ही बड़ी सावधानी बरती गयी है। राज्य में कोष की रक्षा के हेतु उसे छिपा कर रक्खा जाता है, ताला लगाया जाता है, सशस्त्र पहरेदारों का कड़ा पहरा बिठाया जाता है, इसमें धन का अपमान नहीं उसका उचित सम्मान है, नारी की पहरेदारी में मानव जाति की नीयत बुरी नहीं कही जा सकती।

इसीलिए कहा गया है—

—असूर्यंपश्या राजदाराः

राजन्य-कुल-ललनाओं का मुख सूर्य भी नहीं देख पाता। माता कौसल्या ने सीता जी के विषय में इसी गौरवशालिनी प्रतिष्ठा का सजल लोचनों से उल्लेख किया है—

न शक्या पुरा द्रष्टुं भूतैराकाशगैरपि।
तामद्य सीतां पश्यन्ति राजमार्गगता जनाः। वा०रा० २-३३-८

जिस सीता को आकाशचारी भी नहीं देख पाते थे आज उसे मार्ग पर चलने वाले साधारण लोग भी देख रहे हैं, इससे बढ़कर रघुवंश की क्या अप्रतिष्ठा होगी ?

महाराज भोज ने अपने 'चम्पू रामायण' में इस भाव का

सुन्दर पल्लवन किया है, वे कहते हैं—

सीता पुरा गगनचारिभिरप्य दृष्टा,
माभूवियं सकल मानव नेत्र पात्रम्।
इत्याकलय्य नियतं विदधे विधाता,
बाष्पोदयेन नयनानि शरीरभाजाम्॥

पहिले जिस सीता को गगनचारी भी नहीं देख पाये, उसे अब साधारण लोग न देखें, ऐसा सोचकर निश्चय ही विधाता ने सम्पूर्ण लोगों की आंखों को अश्रु प्रवाह मे ढक दिया। .

इस प्रकार अथाह वैभव अखण्ड प्रतिष्ठा एवं सूर्यवंश की दुर्धर्ष प्रचण्ड शक्ति के मध्य में रहती थीं राजर्षिकुमारी सीता। किन्तु इस प्रकार राजकीय सत्कार की असामान्य परिधि में पृथ्वी पुत्री का चरित्र बाहर प्रकाश में नहीं आ पाया था, उदयाचल की गहन घाटियों में लीन सूर्य की सुनहली किरणों के समान चरित्र-रश्मियाँ लोक के प्राङ्गण में फूटकर नहीं बिखरी थीं। क्यों ? क्योंकि मानव ने पूज्य नारी की पवित्रता की रक्षा में जिन साधनों, जिन परिस्थितियों को आवश्यक समझा, उन्हें महत्व दिया, वह समग्र सुरक्षा-सामग्री वैदेही के सर्वतः फैली थी। ये साधन भी स्त्री मर्यादा के रक्षण में सदा से महत्वपूर्ण रहे हैं और आज भी हैं। जब तक मानव-मन में पशुता का प्रवेश है, तब तक सतर्क परिस्थितियों की आवश्यकता समाज में रहेगी। पशुओं से बचाने के लिये खेत के चारो ओर कांटों की बाड़ लगायी जाती है और वह अपने अर्थ में सफल है।

पर ऐसी परिस्थिति में चरित्र की दशा, कारागार में घिरे

बन्दी-जैसी होती है, वह अविश्वसनीय होता है, उसकी सत्ता वाह्य उपकरणों पर निर्भर कर दी जाती है, वहाँ चरित्रगत शौर्य का दर्शन नहीं होता। इसीलिये महर्षि बाल्मीकि कहते हैं—

न गृहाणि न वस्त्राणि न प्राकारास्तिरस्क्रियाः।
नेदृशा राजसत्कारा वृत्तमावरणं स्त्रियाः॥

स्त्री की रक्षा, घरों की दीवालें, वस्त्र, बड़ी-बड़ी चहार-दीवारियाँ पर्दा-अवगुण्ठन एवं राजकीय वैभव नहीं कर सकते, उसका वास्तविक रक्षक वृत्त है, चरित्र है। अयोध्या के याज्ञिकों ने एक स्वर से कहा है—'दाराश्चारित्र्यरक्षिता:' स्त्री का रक्षक उसका चरित्र होता है। महर्षि की इस महती वाणी को सार्थक बनाया वैदेही ने।

कुम-कुम-कमनीया किशोरी के अंगों में सौन्दर्य का क्षीर सागर लहराता है, आकर्षणों की गगन स्पर्शी लहरें हैं, श्री अंगों पर वर्णानुरूप सूक्ष्म एवं मृदुल नील पीतादि वर्ण के कौशेयादि राजकीय परिधान हैं, वे शतशः मृदुल कर पल्लवों में लालित पालित हुई हैं, मिथिला की मिट्टी में उनके सीप-सी आँखों से मोती-जैसे आँसू कभी नहीं छलके, जिनके अधरों को पीड़ित प्राणों की ऊष्ण उच्छ्वास ने कभी नहीं छुआ, जिनके कमनीय कर्णों में अप्रिय ध्वनि कभी नहीं पड़ी, जिनके चरण, भय से कभी नहीं काँपे, ऐसा था उनका लोक-दुर्लभ कलेवर।

राजर्षिवंश तिलक मिथिलाधिराज की प्राणोपम पुत्री होने के

कारण चन्[illegible] रही
और वैसे ही आकाश-स्पर्शी प्रासाद मिले श्री अवध में। सहस्रशः दास दासियां, जिनके प्रत्येक दृष्टिपात पर लट्टू होती हैं। सात कक्षाएँ, प्रत्येक कक्षा पर जागरूक प्रबल प्रहरी। गुरु-जनों के स्नेहसिक्त कल्याणपूर्ण आशीर्वादात्मक सुन्दर उपदेश। इतने सघन आवरण-पुञ्ज में ढँके हुए जनकतनया के चारु चरित्र का दर्शन विश्व कैसे करता? इस देव-दुर्लभ चरित्र का सौरभ सर्वत्र बिखेरने के लिये ही राम प्रिया वैदेही प्रभु के साथ वन में गयीं। उनके प्राण वल्लभ परम प्रभु का प्रभाव प्रसिद्ध था—

सकल सुरासुर जुरहिं जुझारा, रामहि समर न जीतन हारा।

ऐसे प्रतापी पति के साथ थे दुर्धर्ष अद्वितीय दिव्य देवर—

प्रान नाथ प्रिय देवर साथा, वीर धुरीन धरें धनु भाथा।

अभी भी रघुवीर-हृदयेश्वरी के चरित्र को अपना शौर्य व्यक्त करने का अवसर नहीं मिला, लगता है, इसीलिये वे लंका में ले जायी गयीं।

वस्तुतः नारी शरीर की रक्षा में चरित्र की स्थिति बड़ी नाजुक होती है, वह सर्वथा अकेला पड़ जाता है। हमने देवियों के चित्र देखे हैं, चरित्र पढ़े हैं, महिषासुर मर्दिनी के हाथ में बहुत से हथियार हैं। भारत के इतिहास में कई देवियों के पौरुष प्रसिद्ध हैं जिनकी तलवार ने बैरियों के छक्के छुड़ा दिये थे। वहां चरित्र का सहायक शस्त्र-कौशल था, चरित्र असहाय नहीं था, किन्तु अलौकिक था किशोरी का चरित्रगत शौर्य। बताइये

लंका में उनके साथ कौन गया था ? न श्री राम थे न देवर के धनुष वाण। फिर उनकी रक्षा किसने की ? सचमुच उनके साथ गया था, आग की लपटों-जैसा ज्वलन्त, ग्रीष्म के प्रचण्ड सूर्य-जैसा प्रखर, तलवार की धार-जैसा पैना और अचिन्तनीय चिन्मय चिनगारियाँ उड़ाता हुआ—ज्वलदङ्गार-जैसा चरित्र; इसीलिये अशोक वाटिका में बैठी जनक की बेटी को देखकर आदि कवि ने कहा—

—पिनद्धां धूमजालेन शिखामिव विभावसोः

सीता की शरीर यष्टि, आग की लपट थी, मुख पर बिखरे बाल उस आग की लौ पर उड़ता हुआ धुँआ था, इसी आग से पवन कुमार ने लंका जला दी थी——

—यः शोक वह्नि जनकात्मजायाः। आदाय तेनैव ददाह लङ्काम्

रावण-वध पर रो-रो कर मन्दोदरी ने कहा था——

—पतिव्रतायाः स्तपसा नूनं दग्धोऽसि मे प्रभो।

हे मेरे नाथ! निश्चय ही तुम पतिव्रता स्त्री के तेज से जल गये, तुम्हारी मृत्यु के कारण राम नहीं, सीता का तेज है।

श्रीमद्भागवत नवम स्कन्ध में भी मन्दोदरी कहती है——

तेजोऽनुभावं सीताया येन नीतो दशामिमाम्

'सीता के तेज ने ही तुम्हें इस दशा में पहुँचाया है'।

वस्तुतः जनकात्मजा का प्रभा-भूषित चरित्र-स्तम्भ इतना ऊँचा है कि उसके छोर को, अयोध्या के लोगों की आँखें भी नहीं छू पायीं, रावण की तो बात ही छोड़िये।

जिस चारित्रिक पवित्रता ने लंका की क्रूर राक्षसिओं के पाषाण हृदय को कुसुम-कोमल बना दिया, उन्हें बिना मोल की दासी–बना लिया; जिस चरित्र ने धधकती आग की ज्वाला में गिरकर आग के अंगारों से भी अधिक ज्योतिष्मती अपनी अरुण रश्मियों से त्रिभुवन-वन्दनीय दिव्य शक्तियों को श्रद्धा से झुका दिया, उस पर अयोध्यावासी विश्वास न कर सके। उन्हें शास्त्र के इस सत्य पर भी विश्वास नहीं हुआ कि स्त्री का प्रबल प्रहरी उस का अमर चरित्र ही होता है। नल-दमयन्ती, सावित्री-सत्यवान सुकन्या-च्यवन आदि की कथाओं के शास्त्र प्रमाण झूंठे हो गये। लगता है, उनकी दृष्टि में शास्त्र के ऐसे वाक्य एक आदर्श वाक्य थे। आदर्श वह, जिसे पाया न जा सके, केवल वाणी से दुहराया जा सके। उनकी दुर्बल दृष्टि में धरती की नारी अकेली रहकर अपने सतीत्व की रक्षा नहीं कर सकती थी। इस प्रकार के लोग शास्त्र प्रमाणवादी न रहकर प्रत्यक्ष प्रमाणवादी बन गये और ऐसा प्रत्यक्ष प्रमाणवादी नास्तिक होता है। माता सीता ने उन्हें नास्तिक होने से बचा लिया, क्योंकि उन्होंने शास्त्र के आदर्श को धरती पर उतारा, उनके चरित्र में आदर्श का अवतार हुआ। उनके अन्तिम चरित्र का आदि कवि ने धरा-प्रवेश का वर्णन किया है और अयोध्या वासियों को चरित्र का मर्म सिखाया कि चरित्र का आदर्श कहीं स्वर्ग की अनोखी चीज नहीं, वह तो धरती की ही धरोहर है, धरती में ही समाई हुई है, इसी मानव वसुधा की मधुर गन्ध है।

माता सीता ने जब तीनों लोकों की विराट सभा में गोमती

के तट पर [illegible] में कहा था—'तदा मे माधवी देवी विवरं दातु मर्हसि' ओ देवी वसुन्धरा तुम विदीर्ण हो जाओ। और सचमुच धरती का हृदय द्विधा हो गया, तब अयोध्या वासियों को विश्वास हुआ पश्चात्ताप हुआ। उन्होंने समझा कि सीता का चरित्र आग को सलिल-सा शीतल कर सकता है, धरती को चीर सकता है उसके तेज में हजारों रावण पतिंगे की तरह जलकर राख हो सकते हैं।

सचमुच महान् ज्ञानी जनक का एक वाक्य सर्वथा सत्य निकला, उन्होंने चित्रकूट पर वल्कलवसना बेटी सीता को देखकर कहा था—

—पुत्रि पवित्र किये कुल दोऊ।

यह एक बहुत बड़ी बात कही गयी, क्योंकि दोनों कुल स्वतः पवित्र थे। पिता का कुल, निमिकुल था, जहां अध्यात्मविद्या के महान् शिक्षक योगी याज्ञवल्क्य थे, जनक की प्रशंसा में स्वयं भगवान श्रीकृष्ण ने कहा––

कर्मणैवहि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः

दूसरा था पतिकुल, सूर्यवंश, जिसमें बुद्धि के अधिष्ठाता ब्रह्मा के मानसिक पुत्र विवेक सागर वसिष्ठ कुल गुरु थे, जहां सगर, दिलीप, मान्धाता, भगीरथ जैसे लोक विख्यात चक्रवर्ती सम्राट हुए; जिन रघुवंशियों की प्रशस्ति में कहा गया––

रघुवंसिन कर सहज सुभाऊ, मन कुपंथ पग धरहिं न काऊ।
रघुकुल रीति सदा चलि आई, प्रान जाहि बरु वचन न जाई।

जिनकी शूरता के सम्बन्ध में कहा गया—

कालहु डरहिं न रन रघुवंसी।

ऐसा पावन एवं तेजस्वी था पतिकुल। दोनों पवित्र कुलों को अधिक पवित्र बना दिया। आठवी शती में एक संस्कृत का नाटककार हुआ शक्ति भद्र। उसने इस प्रश्न का उत्तर दिया कि आखिर पवित्र वस्तु को पवित्र कैसे किया ? अपने 'आश्चर्य चूडामणि' नाटक में कहता है—

पूतं पुनासि पितरं मिथिलाधिराजं
राजर्षि वंश तिलकं दयितं च रामम्।
वन्द्या जनस्य सरिदम्बरगोचरेव
शैलं तुषार शिखरं पतिमम्भसां च।

अशोक तरु के तले बैठी वैदही से पवन नन्दन कहते हैं—

'मिथिलाधिराज आपके पिता पवित्र हैं, उन्हें आप अधिक पवित्र बना रही हैं, राजर्षिवंश तिलक आपके प्राणवल्लभ श्रीराम पावन हैं उन्हें भी आप और अधिक पवित्रता प्रदान कर रही हैं। कैसे ? जैसे गगन गामिनी मन्दाकिनी गंगा, हिमगिरि के शिखर पर उतरकर उसे अधिक पवित्रता एवं सागर में मिलकर उसे भी अधिक शुद्धि प्रदान करती हैं'।

इसीलिए परम पारखी पूज्य गोस्वामी जी ने कहा—

सतो सिरोमनि सिय गुन गाथा, सोइ गुन अमल अनूपम पाथा।

कौन वर्णन कर सकता है, मां की इस महान महिमा का। सुकवि धनराज कहते हैं—

वारि वारिजात, वारिजात पारिजात दोऊ
प्रबल प्रवाल की कमाचें कुम्हलाती हैं,
आब सी दिखात आफताब सो भुलात जात,
गालिब गुलाब के गरूर गरकाती हैं।
धनराज सुकवि सु देखे जन रीझि जात,
पाप की प्रणाली पात-पात ह्वै बिलाती हैं।
सीता ठकुराइन के पाँइन के पास
कवि उक्ति मड़राती खिसियाती फिर जाती हैं।

श्री सीताराम, दोनों चरित्र के देवता हैं, चरित्र के भगवान हैं. यही कारण है कि—

गोस्वामी तुलसीदास जी ने अपने रचित रामचरित का नाम 'मानस' रक्खा है, रामायण नहीं अतः यह रामचरित मानस है। 'रामचरित मानस एहि नामा'। इस नाम की ओर ध्यान से देखने पर स्पष्ट हो जायगा कि इस शब्द के मध्य में स्थित है 'चरित'। फलतः इस ग्रन्थ का हृदय, इस ग्रन्थ का प्राण स्पन्द है चरित्र यह सिद्ध हो जाता है।

प्रत्येक युग एवं प्रत्येक समाज में हर एक व्यक्ति का चरित्र ही उस युग, उस समाज तथा व्यक्ति का मानदंड रहा है। यही कारण है कि अनेक गुणों के सम्बन्ध में प्रश्न करने के पश्चात भी आदिकवि ने देवर्षि नारद से पूछा था 'चारित्र्येण च को युक्तः'। मानों समग्र मानव जाति के जीवन का शुक्ल पक्ष है उज्ज्वल चरित्र। उस चरित्र का समग्र सौन्दर्य चरितार्थ हुआ था श्री सीताराम के चरित्र में। अतः तुलसी ने राम के चरित्र को

चारु चिन्तामणि की राशि थी । उसे सुमति सीमन्तिनी का सुभग शृङ्गार माना ।

रावण के भाल पर चतुरानन ने जो अभद्र रेखा खींची थी, उसे वह मिटा न सका स्वतः मिट गया । उस रेखा को दूर करने का उसने भगीरथ प्रयत्न किया था, मस्तक उतार कर रख दिया था प्रलयंकर आशुतोष शिव के चरणों में, पर रेखा न मिटी एक अमर अपयश इसी की बगल में एक ओर बैठ गया था, अपनी इस असफलता की झेंप को मिटाने को हंसा अवश्य था—

नर के कर आपन बध बाँची, हंसेउ जानि विधि गिरा असाँची ।

अब देखिये राम का चरित्र । वह मानव मात्र के भाल पर जो कठिन कुअङ्क अङ्कित हो गये हैं, जो दुर्भाग्य की लिपि लिख गई है उन कुअंकों को शुभाङ्कों में, दुर्लिपि को सुलिपि में परिणत कर सकता है:

मेटत कठिन कुअङ्क भाल के

गोस्वामी जी ने श्रीराम के चरित्र को बड़े उज्ज्वल रूप में प्रस्तुत किया है, वे उसे 'हंस' कहते हैं—

सेवक मन मानस मराल से

वास्तव में गोस्वामी जी के मानस में ऐसे मञ्जु मराल ही तो गुण-अवगुण के पारखी हैं, 'मानस' का सम्पूर्ण सलिल रघुवंश भूषण के चरित्र—हंसों का जीवनाहार है । मानस सलिल बिहारी ये मराल कितने भव्य परिवेष में रहते हैं, इसकी एक झाँकी प्रस्तुत है ।

कैलाश पर्वत दर्पण है दिव्य देवाङ्गनाओं का। कालिदास कहते हैं—कैलासस्यत्रिदशवनिता-दर्पणस्या तिथिः स्याः। 'यक्ष! तुम उस कैलास के अतिथि होना जो त्रिदश देवियों का दर्पण है'। इस तरह कैलास दर्पण है स्वर्ग की अप्सराओं का, वे उसमें अपना मुख देखती हैं परन्तु कैलास अपना मुख किसमें देखता है, उसका दर्पण क्या है? कैलास ही क्यों कैलासवासी शशिशेखर भी मुख देखते हैं तो किसमें? हमें लगता है, लगता ही नहीं, वस्तु स्थिति है यह कि कैलास अपना मुख देखता है—गिरिराज के चरण प्रान्त में तरङ्गित मानस सरोवर में। मानस—सर वह दर्पण है जिसमें देव नहीं महादेव देवी के सहित अपनी छवि निहारते हैं और वह सरोवर सौभाग्यशाली है साकार श्रद्धा विश्वास उमा महेश्वर की छवि को छाती में बसाकर। कैसी महिमा से मण्डित है मान—सर! दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि स्वर्ग-धरती का हृदय रूप है, कैलास; कैलास के हृदय हैं भगवान शिव और उनका हृदय है मान सरोवर! इसी आधार पर तो गोस्वामिपाद ने अपने 'मानस' की स्थिति शिव के हृदय में मानी। वे कहते हैं—

रचि महेस निज मानस राखा। पाइ सु समय सिवा सन भाखा॥
ताते राम चरित मानस बर। धरेउ नाम हिय हेरि हरषि हर॥

और यही तो नगराज के चरण विहारी उस सर से इस सरोवर की भिन्नता है। उसके हृदय में शिव प्रतिबिंबित होते हैं और यह मानस सर ऐसा है जो स्वयं शिव के हृदय में लहराता है। वहाँ केवल प्रतिबिंब है और यहाँ है मूर्तिमान बिंब। अवश्य

ही भौतिक मानस सरोवर का परिसर भूमि विविध पादपों की सघन छाया से शीतल है, जिसके नीचे मननशील साधु सन्त ध्यान संलग्न रहते हैं, पर गोस्वामी जी का मानस इससे सर्वथा विलक्षण है। यहाँ वृक्ष के तले सन्त नहीं बैठते अपितु वृक्ष ही सन्त हैं।

सन्त सभा चहुं दिसि अमराई

और जब सन्त ही वृक्ष हैं तो स्वाभाविक ही वे सकण्टक या कटु फल नहीं हो सकते। वे आम्रकानन जहाँ पतझड़ नहीं आता, जो वसन्त समीरण से झूमता हुआ मञ्जरी पुञ्ज से मञ्जु एवं कोकिल के कल कूजन से मुखरित रहता है—

श्रद्धा रितु बसन्त सम गाई

दूरवर्ती मानस के तट गत वृक्ष कठोर होते हैं, पर यहाँ कठोरता कहां ? सन्त तो कोमलता की सीमा है—नवनीत से भी अधिक मृदुल !

सन्त हृदय नवनीत समाना, कहइ कविन पै कहइ न जाना।
निज परिताप द्रवहि नवनीता, पर दुख द्रवहिं सो सन्त विनीता।

जब वृक्षों में यह सौकुमार्य है तो उसके बौर का बखान कैसे हो, वृक्ष ही कोमल हैं तो उसके फूल की कोमलता का क्या कहना ? यह तो ऐसी बात हुई जैसे चन्दन तरु स्वतः सुगन्धित, उसमें भी खिल गये फूल तो भला उनकी सुगन्ध का क्या ठिकाना ? गन्ना का डण्ठल ही मीठा, कहीं उसमें लुभावना फल झूम उठे तो उसके माधुर्य की माप कैसे की जाय ?

यह तो हुई पुष्प की बात। लेकिन सन्तों की अमराई में केवल फूल ही नहीं होते। मात्र पुष्पित पादप तो मुखर मानव का प्रतीक है–पाटल सम है जिसमें केवल प्रसून खिलते हैं। मानस रस से पुष्ट पादपों के पुष्प तो अपने अंक में लिये रहते हैं अपने जीवन रस को—मधुर फल को। यों मानस सरोवर के हरित तट पर अमराई वसन्त श्री की महक और फलोदय बताकर उनकी व्याख्या प्रस्तुत की।

संयम नियम फूल फल ग्याना, हरि पद रति रस बेद बखाना।

श्रद्धा की बहार में संयम नियमों के पुष्प स्तवक स्वतः विकसित होते हैं। पुष्पों का विकास प्रयास—सापेक्ष नहीं होता। संयम नियम में जहाँ श्रम है वहीं कृत्रिमता है उसमें मधुरता का उद्भव असम्भव है।

वह सारे का सारा परिवेश ग्रन्थकार के 'मानस' के तट का वैभव है। फूल की कमनीयता का सौभाग्य स्रोत, सरोवर का सलिल है और वह है 'सुधासम राम—सीय जस सलिल' राम का चारु चरित्र जो साधन और साध्य दोनों का बीज है—

जननि जनक सियराम प्रेम के, बीज सकल ब्रत धरम नेम के।

●

जे गावहिं यह चरित संभारे

अधुनातन युग में 'रामचरित मानस' हमारे देश का प्रेरक ग्रन्थ है, देश की धमनियों में प्रेरणा का प्राण-प्रद शोणित दौड़ाने वाला हृत्पिंड है। वह लोक भाषा में लोक-हृदय को अपने स्पर्श से स्फूर्ति प्रदान करनेवाला है अतः उसका बड़ा प्रचार है।

एक समय था जब गीता, गंगा, गायत्री, गोविन्द और गाय इन पाँच गकारों से आस्तिक हिन्दू की पहचान होती थी, पर अब तुलसी का दल एवं तुलसी की चौपाइयों ने ही उस कार्य को संभाल लिया है। आज की हवा में अन्य वर्णों की तो बात ही क्या, ब्राह्मण वर्ण ही संध्या-वन्दन-शून्य, शिखा-सूत्र-विहीन, आय-मर्यादा-बहिष्कृत होता चला जा रहा है। उस दशा में हिन्दुत्व की रक्षा कौन कर सकता है ?

हमारे देश में जब अंग्रेजों का शासन था तब उन्होंने यहां के लाखों लोगों को जहाजों में भर भर कर बाहर के द्वीपों में काम कराने के लिए भेजा। पूर्वी प्रदेशों के लाखों लोग भारत से बाहर गये। उस समय उनके साथ न संहिताएं गयीं न उपनिषद् गये, न पुराण गये, न धर्मशास्त्र गये और न दर्शन-शास्त्र; उनके साथ यदि कुछ गया तो वह था रामचरित मानस का गुटका और उनके कंठ का हार बनकर गया था 'हनुमान

चालीसा। एक रामचरित के कारण न वे भारत को भूले, न रामकृष्णादि अवतारों को भूले और न यह भूले कि हम हिन्दू हैं, हम भारतीय हैं। वे भले ही अपने साथ वेद-पुराणों को न ले गये हों पर 'मानस' ने उन आर्य ग्रन्थों के प्रति उनके हृदय में श्रद्धा के बीच बो दिये। वैदिक ग्रन्थों का परिचय, रामचरित मानस के द्वारा मिला, अतः मानस की साक्षी के बिना आर्ष ग्रन्थ भी प्रमाणकोटि पर पूर्ण नहीं उतरते। कविवर 'प्रधान' का एक छन्द है :—

> जेती कृपा कीन्ही हनुमान जू गुसाईंजू पै,
> तेती कृपा रामहू न कीन्ही सगे भाई को।
> सबै निज तत्व राम जानकी को तत्वसार,
> एकै बार सौंप दीन्ही सबै सो कमाई को।
> कैते कवि भये, कैते अहै, कैते होन वारे,
> कोउना 'प्रधान' ऐसी पाई प्रभुताई को।
> वेद औ, पुरान को न मान राखें तौलों लोग,
> जौलों न प्रमान भाखें तुलसी चौपाई को।

इस प्रकार गोस्वामी तुलसीदास की जो महान देन है, महती अनुकम्पा है, उससे यह देश कभी उऋण नहीं हो सकता। देश के एक छोर से लेकर दूसरे छोर तक मानस का प्रचार कार्य अनवरत बढ़ता जा रहा है। इस प्रचार कार्य में हमारे मानस-मनीषियों का महान योगदान है। मर्यादा पुरुषोत्तम श्री राम के प्रति उनकी आस्था, शास्त्रों का श्रद्धा पूर्वक अध्ययन और उनके तथ्यों का चिन्तन, मधुर स्वभाव, मधुर वाणी, तुलसी साहित्य का सम्यक् अध्ययन और लोक व्यवहार का बोध आदि ऐसे

अनेक गुण हैं जिनके [illegible] मानस में 'मानस' की मर्यादाओं के प्रति अगाध श्रद्धा भर देता है। इस दृष्टि से मानस मर्मज्ञों की भूमिका असन्दिग्ध रूप से सर्वाधिक महत्व-पूर्ण है।

आधुनिक रूप में मानस की कथा लगभग ३०, ४० वर्षों से कही जा रही है, फलतः आज देश के कई भागों में रामचरित मानस सम्मेलनों का आयोजन स्थायी रूप से प्रति वर्ष होता चला जा रहा है। उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, विहार प्रदेश तो ऐसे आयोजनों के गढ़ हैं ही, अन्य प्रदेशों में भी तुलसी की राम कथा फैली है, जैसे पंजाव, बंगाल, महाराष्ट्र, गुजरात,, मद्रास और राजस्थान। श्री राम कथा गायक विदेशों में भी गये हैं।

हमने देखा है, मानस सम्मेलनों में बीस-बीस हजार श्रोता रात्रि को दो-दो बजे तक मन्त्र-मुग्ध होकर तुलसी के वचनामृतों का पान करते हैं, मधुर प्रेरक आदर्श पूर्ण व्याख्याऐं सुनकर झूम झूम उठते हैं।

वक्ताओं को जनता इतना आदर देती है, जितना वह अपने किसी रिश्तेदार को भी नहीं देती, अपार श्रद्धा के जमींदार होते हैं वक्ता। उसे देखकर किस के मुंह में पानी नहीं भर आयेगा ? फलतः नकली वक्ताओं की बाढ़ सी आ गयी है, बाजार में तो बहुत सी चीजें नकली चलती हैं तो नकली वक्ताओं का चल पड़ना कोई आश्चर्य नहीं। एक विशिष्ट वेश-भूषा बनाये शिखण्डी-माडल वक्ता यत्र तत्र दिखाई दे जाते हैं। उनकी साधना

मात्र इतनी होती है कि चार छः सम्मेलनों में जा बैठे, वक्ताओं की कुछ युक्तिपूर्ण बातें अंकित करते रहे, ४. ६ दिन की सामग्री हो गयी, बस हो गये वक्ता। किसी के सामने झुकने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता, बैठ गये 'अहं' के उत्तुङ्ग शिखर पर। नाम के साथ चाहे जो पदवी लगा ली 'सम्राट्, मार्तण्ड, भास्कर, मर्मज्ञ महारथी' आदि। न कोई परीक्षा न कोई पूछने वाला। एक वक्ता महोदय अपने नाम के साथ लगाये हुये थे एम० ए०। जिन्होंने कभी कालेज का मुँह नहीं देखा, जिन्हें अंग्रेजी तो क्या शुद्ध हिन्दी भी नहीं आती, वे भी अपने को लिखते हैं एम०ए०। मेरे परिचित थे तो मैंने पूछा। वे बोले एम० से 'मानस' ए० से आचार्य—मानसाचार्य, यह है दूषित दम्भ। इधर कुछ पाश्चात्य एवं प्राच्य काव्य के तुलनात्मक सन्दर्भ में तुलसी की यशोगाथा को प्रथित करने वाले लमगोड़ा जी की परम्परा के आधुनिक विद्वानों ने भी प्रवचन-मञ्च पर प्रवेश किया है और यह एक अच्छी बात है कि वे वर्तमान युग के परिवेश में मानस की महती देन का मर्मपूर्ण मूल्यांकन करें, भावाकुल धरातल से उठकर असंकीर्ण विस्तृत एवं निष्पक्ष चिन्तन के सन्दर्भ में रामचरित मानस की बुद्धि-सम्मत व्याख्या उपस्थित करें, पर इसके लिये जिस व्यापक अध्ययनशीलता की, साधना शोधित आस्था की, विज्ञविदग्धों के सतत सम्पर्क एवं ज्ञान पिपासा की संस्कृत-आंग्ल भाषाओं में अवाध प्रवेश अथच काल के विशाल खण्डों पर एक-एक पग सूझ-बूझ के साथ रखकर चले आ रहे विश्व इतिहास की निर्णायक घटनाओं के निरीक्षण हेतु जिस विलक्षण क्षमता

की आवश्यकता है उसका अभाव सा दिखाई देता है। अभी तक
मैंने आधुनिक रोशनी के एक-दो विद्वानों को ही सुना है। मेरी दृष्टि में उनकी विशेषता रही है ललकार भरी आवाज, चैलेंज से चमकती आँखें, अनावश्यक नाटकीय मुख मुद्रा तथा मुख पर शुष्कता, माथे पर पसीने का गीलापन अर्थात् उनमें देखा—राजनैतिक नेता जैसी प्रदर्शन-प्रियता, आक्षेप-बहुल शैली और छिछला प्रतिपादन।

एक दो पुरानी चाल के कथा वाचक भी ऐसे हैं जो मानस के द्वारा कूप मण्डूकता का ही प्रचार करते चले आ रहे हैं। वे बड़े गर्वीले स्वर में शाही फरमान के रौब में घोषित करते हैं 'रामचरित मानस केवल मानस' से लग सकता है, अन्य ग्रन्थ से नहीं। उधार लेने वह जाता है जो दरिद्र हो, जिसके घर में हीरे मोती की खानें हों वह किसी से क्यों माँगने लगा, जो लोग मानस का अर्थ करने के लिए अन्य ग्रन्थों का उद्धरण देते हैं वे मानस जानते ही नहीं।

मेरी समझ में ऐसा कथन अविवेक पूर्ण तो है ही, प्रच्छन्न रूप से संस्कृत भाषा, संस्कृत ग्रन्थों का ही अपमान नहीं करता अपितु गोस्वामी तुलसीदास जी के प्रतिपादित सिद्धान्तों का भी खण्डन करता है। 'नाना पुराण निगमागम सम्मत' कहकर जो कवि पुङ्गव 'क्वचिदन्यतोऽपि' कहना नहीं भूलता, उसके मानस को प्राचीन वाङ्मय से निरपेक्ष बताना एक अनोखा गूलर फूल सिद्ध करना, बुद्धि का दिवालियापन है।

ऐसे लोग जब [illegible] पूर्वक ऐसी [illegible] हैं तो उनके मूल में निज की अयोग्यता के आच्छादन का प्रयास स्पष्ट झलकता है। प्रायः समान क्षेत्र में बेसुरे, सुरीले लोगों की, संस्कृत शून्य, संस्कृतज्ञों की, अध्ययन शून्य, अध्ययन शीलों की निन्दा करते ही हैं।

ऐसे लोगों के सामने हम कुछ मानस से उद्धरण प्रस्तुत कर रहे हैं, उन्हें पढ़कर अपने हृदय से पूछें कि क्या रामचरित मानस केवल मानस से लग सकता है ? या गोस्वामी जी के द्वादश-ग्रन्थोंसे लग सकता है ?

सुन्दरी सुन्दर बरन्ह सह, सब एक मण्डप राजहीं।
जनु जीव उर चारिहु अवस्था विभुन सहित विराजहीं।।

उपरितन पथ में निर्दिष्ट चार अवस्थाओं का क्रमबद्ध प्रामाणिक विवेचन, अवस्थाओं का सम्बन्ध, विभुओं की परिभाषा उनका स्वरूप, विभुओं के अवस्थित-स्थान आदि तुलसी के किस ग्रन्थ से बताये जा सकते हैं ?

सांख्य शास्त्र जिन्ह प्रकट बखाना, तत्व विचार निपुन भगवाना।

आचार्य कपिल को 'तत्व विचार निपुण' कहा है। 'साँख्य शब्द के अनुसार तत्वों की संख्या, उनका प्रतिपादन' एक वक्ता के नाते ज्ञातव्य है। तुलसी के मानस से इस अर्धाली का सम्यक् प्रतिपादन कैसे हो सकता है ?

'ब्रह्म निरूपन धर्म विधि बरनहि तत्व विभाग'

केवल तुलसी-ग्रन्थों का पाठक कथा वाचक–तत्व विभाग का विवेचन कैसे करेगा ?

'अहंकार शिव बुद्धि अज, मन ससि चित्त महान'

क्या कोई व्यक्ति केवल "मानस" के आधार पर इस अर्धाली की अभीष्ट व्याख्या कर सकता है ?

"आकर चार लाख चौरासी"

इस पंक्ति का आशय, कर्मानुकूल, गणनाबहुल जीव-जन्म का उक्त लेखा-जोखा बिना शास्त्रान्तर के कैसे सिद्ध हो सकता है।

"सप्तावरन भेद करि जहाँ लगे गति मोरि"

क्या तुलसी की किसी पंक्ति से सप्त आवरणों का उल्लेख, उनकी परिभाषा, उनकी सीमा तथा उनकी कार्य-कारण की शृंखला को कैसे सिद्ध किया जा सकता है ?

मानस में यत्र तत्र शिवि दधीचि, हरिश्चन्द्र, नारद, अगस्त्य आदि पौराणिक राजा एवं ऋषियों के नामों का उल्लेख हुआ है, उनकी मूल कथा का बोध क्या केवल मानस से हो सकता है?

नान्दी मुख श्राद्ध, जातकर्म, चूडाकरन आदि मानस में निर्दिष्ट संस्कारों का बोध क्या तुलसी के किसी ग्रन्थ से हो सकता है ?

"पंच कवल करि जेवन लागे, चार भाँति भोजन विधि गाई"

'छरस रुचिर विंजन बहुभाँती' का विधान और व्याख्या क्या तुलसी बतायेंगे, 'पंच सबद धुनि मंगल गाना' नव सप्त साजे सुन्दरी, 'सोरह भाँति पूजि सनमाने' 'प्रगट चारि पद धरम के' 'चारिहु चरन धरम जग माहीं' 'भूमि सप्त सागर मेखला, आदि बातों की व्याख्या तुलसी के किस ग्रन्थ से की जायेगी ?

“[illegible]” [illegible] ?

सीता हरण के क्षणों में वे यह कहना नहीं भूलते—

'मरम बचन सीता जब बोला'

वे लक्ष्मण को भी अछूता नहीं छोड़ते हैं—

पुनि कछु लखन कही कटुबानी ।
प्रभु बरजे बड़ अनुचित जानी ।

अथवा—

लखन कहे कछु बचन कठोरा,
बरजि राम पुनि मोहि निहोरा ।

और तो और मर्यादा पुरुषोत्तम श्री राम को भी यह कहते हुए उद्धृत करते हैं :—

तेहि कारन करुनानिधि कहे कछुक दुर्बाद ।
सुनत जातुधानी सब, लागी करैं विषाद ।।

क्या इन मानस के संकेतों का पूरा विवरण 'मानस' में पा सकते हैं ? ऐसे सहस्रशःशास्त्रीय विवेचन मानस के प्रत्येक पृष्ठ पर भरे पड़े हैं, जिनकी व्याख्या तब तक संभव नहीं जब तक तत्सम्बन्धी-ग्रन्थान्तरों का सम्यक् अध्ययन नहीं किया जाता। हमने तो कुछ थोड़े से उदाहरण ही दिये हैं। धर्म, दर्शन, ज्योतिष, कर्मकाण्ड एवं राम कथा की समग्र पूर्व परम्परायें मानस में सार रूप से सविनय संगृहीत हैं । बिना उनके अध्ययन के रामचरित मानस का कोई सही वक्ता नहीं बन सकता । इन सारी परम्पराओं की, व्यास-वाल्मीकि की, रामकथा के मूर्धन्य प्रतिनिधि महा कवियों की अवहेलना करके तुलसीदास को

सर्वथा अलग थलग करने का कुप्रयास जो वक्ता कर रहे हैं वे जाने अनजाने अपने अज्ञान पोषण के साथ साथ ऋषियों की अमूल्य ज्ञान निधि के प्रति, भारतीय संस्कृति और सभ्यता की आभा से भूषित प्राचीन गौरव-ग्रन्थों के प्रति उपेक्षा के भाव, उन्हें विस्मृत कर देने का वातावरण उत्पन्न करने का जघन्य अपराध कर रहे हैं।

यदि कहें तो यह एक ऐसा ही अपराध है जैसा अपराध देश-स्वाधीनता की बलि-वेदी पर जवानी का बलिदान करने वाले, जीने की जीवन्त कामना के बिजड़ित कर्ण कवच को अपने हाथों से नोच कर मौत का वरण करने वाले लाखों देश भक्त जवानों की निन्दा करके केवल किसी एक व्यक्ति को देश-स्वातन्त्र्य का सम्पूर्ण श्रेय प्रदान कर सभी उसी के नाम का ढोल पीट कर किया करते हैं।

गोस्वामीजी बार बार कहते हैं—'भाषा बद्ध करब मैं सोई, भाषा बद्ध मिदं चकार तुलसीदासस्तथा मानसम्, वे कहते हैं—

"मैं पुनिनिज गुरुसन सुनी कथा सुसूकर खेत" वह भी एक बार नहीं सुनी "तदपि कही गुरु बारहि बारा, समुझि परीकछु मति अनुसारा" इतने पर भी कुछ वक्ता कहते हैं—ऋषियों ने राम कथा सुनकर लिखी है पर तुलसीदासजी श्रीराम के सम्पूर्ण चरित्रों में उनके साथ रहे, अतः वे आँखों देखी कहते हैं। बालमीकि कहते हैं सुनी सुनाई अतः तुलसी का कथन ही सच, औरों का कथन सन्दिग्ध। घोर आश्चर्य होता है ऐसे प्रतिपादन पर और लगता है कि क्या ऐसे लोगों ने बाल्मीकि को ठीक से

पढ़ा भी है और तुलसी के स्पष्ट कथन को क्या कोरा नम्र कथन ही मानते हैं ? यदि हाँ तो वे स्वयं तो एक असत्य का प्रतिपादन कर ही रहे हैं, गोस्वामीजी को भी असत्यवादी साबित करने पर तुले हैं। वस्तुत: ज्ञान नया नहीं होता, उसकी प्रेरणा नयी होती है, सूर्य किरणें नयी नहीं होतीं उनसे मिलने वाली स्फूर्ति नयी होती है। ध्वन्यालोक में कहा है—

"सर्वे वा इवाभान्ति मधुमास इव द्रुमा:" "वृक्ष तो वही होते हैं पर मधुमास में वे सब नये हो जाते हैं। श्री कृष्ण गीता का गान करते हैं तो कहते हैं 'एवं परम्परा प्राप्त मिमं राजर्षयो विदु:" गीता का ज्ञान कोई नया ज्ञान नहीं, बाल्मीकि रामकथा गाते हैं तो घटित घटनाओं को लेकर ही। तो देश, काल परिस्थिति एवं व्यक्ति की विशेषता से ज्ञान की प्रेरणा नूतन हो जाती है। विशिष्ट स्वर समूहों पर निर्भर एक विशिष्ट राग की व्याख्या होती है, संगीत शास्त्र उसका वर्णन करता है, तो राग एक होता है, पर कण्ठ कण्ठ की बलिहारी होती है, किसी किसी कण्ठ से वह आकर्षण का नया रूप ले लेता है. सचमुच यही नयापन है। काजल तो एक ही है पर आँख-आँख का अनोखापन उसे नया बना देता है—

काजर सब कोउ देति है– चितवन मांझ विसेख

महर्षि बाल्मीकि ने राम कथा रची। उसका मुख्य उद्देश्य तो माता सीता के चरित्र की उज्वलता को अयोध्या की प्रजा के अभिमुख प्रस्तुत करना था। कैसी लोकोत्तर घटना थी, रचयिता थे महर्षि बाल्मीकि, बाल्मीकीय रामायण के गायक थे

सीता माता के पुत्र कुश लव। उनके श्रोता थे साक्षात् श्रीराम और उनकी प्रजा, समय था यज्ञोत्सव का, तट था गोमती का। कितना भव्य और अलौकिक था यह सब कुछ, फिर भी ऋषि की तपःपूत वाणी में अवतीर्ण राम कथा, केवल श्रीराम और उनकी प्रजा के लिये नहीं, वह तो निखिल-लोक कल्याण की मधुर वीणा बन गयी, भागीरथी गंगा आयीं तो सगरतनयों के उद्धारार्थ, पर आज जन-जन का तर्पण गंगा जल से होता है और न जाने कितने सगर पुत्रों का उद्धार होता जा रहा है। राम कथा का यही नया पन है। एतदर्थ मानस के वक्ताओं पर एक गुरुतर दायित्व है। उसके प्रति वे जागरूक रहेंगे तभी मानस का उद्देश्य पूरा होगा।

> जे गावहि यह चरित संभारे।
> ते इहि ताल चतुर रखवारे॥

●

आदि काव्य में–मन्थरा की मुखरता

रामकथा के सन्दर्भ में मन्थरा की पात्रता—उसकी भूमिका अत्यन्त सबल है। वह कैकेयी की सर्वाधिक विश्वस्त, उसके प्रति अनुरक्त पुरानी सेविका है। प्राचीन राज परम्पराओं के संघर्ष-शील इतिहास की पण्डिता है, वक्तृत्व कला में बेजोड़, बेलाग, बात करने में मुँहफट, मुहलगी दासी है। दासी होकर भी सही अर्थों में शासन-तन्त्र की स्वामिनी है, जिसकी तीव्र बुद्धि की रज्जु में पशुवत् आबद्ध होकर केकयराजकुमारी उस रास्ते पर चल पड़ी जिसकी कल्पना उसने स्वप्न में भी नहीं की थी।

आदि काव्य में मन्थरा की कार्यकला विलक्षण रूप से उभर कर सामने आई है। 'अध्यात्म रामायण' एवं 'मानस' का प्रति-पादन यह है कि देव प्रेरिता भगवती भारती, स्वर्ग से उतर कर अयोध्या के महलों में आई और उसने मन्थरा की बुद्धि बदल दी, पर वाल्मीकीय रामायण में ऐसा कुछ नहीं है। वहां बुद्धि-परिवर्तन के हेतु शारदा का आना आवश्यक नहीं। सरस्वती के सारे कार्य का सम्पादन मन्थरा की तीक्ष्ण बुद्धि ही करती है। इस रूप में आदि काव्य की मन्थरा सर्वथा मौलिक है, उसकी कार्यशक्ति सर्वस्वतन्त्र है। वह मात्र कठपुतली नहीं जो पर प्रेरणा पर नर्तन करती है; उस दशा में तो परप्रेरिता का सारा

का सारा अनोखा बुद्धि कौशल ऐसा होगा जैसे विवाह में दूल्हा राजा मांगे के बहुमूल्य वस्त्रादि को धारण कर खुशी में फूला न समाये और विवेकहीन लोग कहें—'क्या ही गजब की सजधज है।'

वाल्मीकीय में मन्थरा का परिचय हम उस समय पाते हैं, जब वह अपने कैलास-शिखराकार चन्द्रसंकाश, धवल राज-महल की गगनचुम्बी उत्तुंङ्ग अट्टालिका पर चढ़कर अयोध्या की समग्र गतिविधियों का निरीक्षण करती है, मूल्यांकन करती है। आदि कवि, महलों के ऊपर से अयोध्या की श्री की ओर झांकने वाली मन्थरा का परिचय देते हैं—मन्थरा एक ज्ञाति दासी है, केकय नरेश के अन्तःपुर की परम्परागत सेवा-संलग्ना सेविका। तथा 'कैकेय्यातु सहोषिता'—कैकेयी के साथ बसनेवाली—रहनेवाली है। बचपन से कैकेयी को वह जानती है और कैकेयी जानती है मन्थरा के स्वभाव को। अनुभव वृद्धा, वयोवृद्धा उस दासी के सामने कैकेयी पैदा हुई, पाली पोसी गयी, बड़ी हुई, शिक्षित हुई और परिणीता होकर अयोध्या जैसे विशाल राज्य के राज घराने में आई। जीवन की इन सारी दशाओं में मन्थरा केकयी के साथ लगी चली आ रही है।

कुब्जा होने के नाते वह केवल विनोद की सामग्री बनकर भी नहीं आई, क्योंकि राजकीय सुसंस्कृत परिवार में विनोद के लिये केवल विकृत वेश ही पर्याप्त नहीं, तदनुकूल अन्तः प्रकृति का होना भी आवश्यक है। मनोविज्ञान की दृष्टि से विनोदी व्यक्ति हृदय का काला नहीं हो सकता पर वह तो 'नख सिख

खोटी' है। ऐसी दशा में केकय नरेश ने अपनी परम सुन्दरी कन्या के साथ अत्यन्त कुरूपा कुब्जा को क्यों भेजा ? इसमें न केकय नरेश की प्रतिष्ठा थी और न इक्ष्वाकु कुल की शोभा ? स्पष्ट है, वह एक राजनीतिक उद्देश्य से साथ भेजी गयी है ; ललनाओं से भरा विशाल महलों का प्राङ्गण, सम्राट् की विलास-प्रियता के दुर्बल अंश की ओर संकेत करता है, ऐसा निष्कर्ष निकालना कोई बहुत अनुचित बात नहीं। जिस राजा के अन्तः पुर में, विचित्र और विभिन्न स्वभाव, अनोखे वेषभूषा और विविध भाषाओं को बोलने वाली शतशः रानियों का निवास है, वहां कब और क्या खिचड़ी पकती है, इसका क्या पता ? उस स्थिति से लाभ लेने की क्षमता को देखकर ही कैकेयी के साथ मन्थरा को भेजा गया है, ऐसा सोचना अनुचित न होगा।

उसका वाक् कौशल, उसकी सूझ-बूझ की भङ्गिमा सर्वथा निराली है। नारी हृदय का मर्मस्थल क्या है, इसे वह खूब जानती है। केकयी के जिस हृदय पर राम जैसा सुघर सलोना रूप छाया हो, जिसके वात्सल्य रस के सरोवर में राम की बाल-मृदुल लीलाएँ कमल-दल-सी फैली हों, जिसके हृदय की एक-एक धड़कन के डोरे में राम गुणों की मणियाँ पिरोयी हों, ऐसे अद्वितीय रूप-राशि राम को कैकेयी के हृदय सिंहासन से उतार देना कितना दुष्कर था ? पर दुष्कर कार्य सुकर हो गया। यह कमाल था राजमहलों में कम से कम बोलने वाली अधिक से अधिक चुप रहने वाली मन्थरा की जबान का। आदि कवि उसे 'वाक्य विशारदा' की पदवी देते हैं।

कैकेयी के प्रति उसके क्या भाव हैं, इस विषय में वाल्मीकि कहते हैं—'तस्यां हितैषिणी' कैकेयी की हितैषिणी है। वह स्वयं कहती है—

तव दुःखेन कैकेयि ! मम दुःखं महद् भवेत् ।
त्वद् वृद्धौ मम वृद्धिश्च भवेदिह न संशयः ।।

"कैकेयि! तेरा थोड़ा-सा दुःख, मेरा महान् दुःख है, तेरी थोड़ी-सी वृद्धि, मेरी महती वृद्धि है।" यही कारण है कि मन्थरा की भृकुटि-कुटिला मुखाकृति को जब कैकेयी देखती है, तो उसे ऐसा लगता है कि मेरे सौभाग्य पर राहु की छाया पड़ रही है—

—कच्चित् क्षेमं न मन्थरे ।

अब देखिये उसका क्रिया कलाप। उसने राजमहल से देखा—राम माता कौशल्या हर्ष विभोर होकर धनराशि का वितरण कर रही हैं। उसका मस्तिष्क सजग हो उठा, वह पलक मारते ही भाँप लेती है कि इस सज रही अयोध्या का कौशल्या की प्रसन्नता से कोई अटूट सम्बन्ध है, अन्यथा राम माता के जीवन में आज अचानक यह उल्लास का निर्झर कहां से फूट पड़ा ? कहीं कैकेयी की सौभाग्य-सम्पत्ति पर डकैती तो नहीं डाली जा रही है ? उसे एक दासी से ज्ञात हुआ—कल राम का राज्याभिषेक है। सहसा जल उठी। वस्तुतः उसे दुःख, राम के राज्याभिषेक का नहीं, उसे दुःख है सपत्नी के सुख का। संसार में ऐसे बहुत कम लोग हैं, जो अपने दुःखों से नहीं, दूसरों के सुख से पीड़ित हैं। उनका सुख, उनकी सुख-सामग्री में नहीं, उनका सुख है दूसरों की दुःख सामग्री में। मन्थरा, ऐसी मनो-वृत्ति के लोगों की प्रतीक है।

कैकेयी से वह किस शैली में बोलती है, यह देखने योग्य है। वाल्मीकीय रामायण अयोध्या काण्ड में सप्तम सर्ग से मन्थरा की मुखरता बिखरती है। महलों से उतर कर स्वर्ण पर्यंक पर लेटी कैकेयी के समीप गयी, उसे झिड़कती हुई बोली—

उत्तिष्ठ मूढ़े! किं शेषे भयं त्वामभिवर्तते।

'अरी ओ मूढ़े! उठ, पलँग पर क्यों पड़ी है, सब ओर से भय तेरी ओर आ रहा है।'' वाक्य का प्रथमांश कितना कठोर है, पर द्वितीयांश ने उसे हितैषिता के रस-स्रोत से सींच कर कितना मधुर बना दिया। पहले कहा—'उत्तिष्ठ' मानों आचार्य बनकर बोल रही है—'उत्तिष्ठत, जाग्रत प्राप्य वरान् निबोधत' उठो भाग्य से बेखबर लोग, जीवन में तुम्हारी तरह सोया ही करते हैं। कैकेयी कह सकती है—मेरे भाग्य पर संकट कहां? तो मन्थरा कहती है, तुम्हारे पुष्पित जीवन-कानन पर वज्र प्रहार होने जा रहा है, सस्य श्यामल भू भाग पर जल प्लावन आ रहा है। कैकेयी कह सकती है—मेघों का राजा वज्र-धर इन्द्र तो मेरे पति का याचक है, मन्थरा कहेगी—जो तीनों लोकों का स्वामी है, वह यदि याचक है तो भयानक है, शायद तुम संकट का सही रूप नहीं समझ पा रही हो, यही तो मूढ़ता है। मन्थरा ने पहले ही वाक्य में कैकेयी को झकझोर दिया। जैसे सोते हुए व्यक्ति की ओर आते हुए सर्प को देखकर उसका आत्मीय, सोने वाले को धक्का देकर जगा दे तो जागने वाला व्यक्ति, उसका कृतज्ञ ही होगा यह नहीं कहेगा कि तूने धक्का देकर मेरा अपमान क्यों किया।

इस प्रथम एक वाक्य से कैकेयी-मन्थरा का पारस्परिक अन्तरंग व्यवहार, कृत्रिमता-शून्य अत्यधिक आत्मीयतापूर्ण निकट का सम्पर्क स्पष्ट हो जाता है। कैसा रोब दाब है मन्थरा का और उसके सामने कितनी नादान बच्ची-जैसी लगती है कैकेयी! भावी जीवन की ओर से कितनी असावधान आँखें बन्द किये है कैकेयी और उसके उज्ज्वल भविष्य के लिये कितनी जागरूक और क्रियाशील है मन्थरा! ये सारी भावों की कड़ियाँ उक्त छोटे वाक्य-सूत्र में पिरोयी हैं। व्यवहार जगत् का एक अनुभूत ठोस तथ्य भी है कि सेवक के सामने कभी-कभी ऐसे अतर्कित आतुरतापूर्ण ज्वलित क्षण आ चमकते हैं, जब वह वाह्य शिष्टाचार के रक्षण में सर्वथा असमर्थ हो जाता है। उसके स्वामि-भक्त हृदय में एक ओर लहरें लेती हैं, स्वामि-समृद्धि की तीव्र भाव धारा तो दूसरी ओर खड्गहस्त खड़ी रहती है, संकटों से जूझने हेतु प्रतिभट भावना। ऐसे निर्णायक क्षणों में वह जैसा व्यवहार करता है, मन्थरा उसका एक उदाहरण है। गोस्वामी तुलसीदास ने उसका समर्थन किया है–'सेवक समय न ढीठ ढिठाई'।

मन्थरा की कठोर शब्दावली की कुदाली, स्नेह और विश्वास की दीवालों पर प्रहार करती है, पर पहली चोट व्यर्थ गयी। अत्यन्त विपरीत उद्देश्य की परिधि में राम राज्य की चर्चा की, पर कैकेयी इस चिर प्रतीक्षित चर्चा से उत्फुल्ल हो गयी। वह हर्ष विस्मय-विभूषिता कैकेयी, शयनतल से ऐसे उठी जैसे तारांकित गगनतल से शारदी चन्द्र रेखा उठती है। आभूषण

उतारकर मन्थरा को देने लगती है। कैकेयी इस घटना को अपने जीवन की सर्वश्रेष्ठ एवं सर्वप्रिय घटना मानती है। मन्थरा के द्वेष-मिश्रित कटुतापूर्ण वाणी के दुष्ट पट में लिपटा रामराज्य का सन्देश, उसे अमृत कलश-सा लगा—

—न मे पर किञ्चिदितो वरं पुनः प्रियं प्रियार्हे सुवचं वचोऽमृतम्

इतना ही नहीं, वह अत्यन्त तुष्टि की पराकाष्ठा में पहुँच कर मन्थरा को वरदान देना चाहती है। उस क्षण आदि कवि कैकेयी की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं। उसे 'शुभानना' 'प्रमदोत्तमा' आदि विशेषणों से अलंकृत करते हैं।

मन्थरा मन ही मन उसके भोलेपन पर खीझती है और हँसती भी है। सोचती है, कैसे हैं ये राजवंश के लोग, जो वरदान देने के लिये उतावले रहते हैं, पर उसके परिणाम से बेखबर। मन्थरा कैकेयी के इस भाव से निराश नहीं हुई, चट्टान पर की गयी एक-एक चोट काम की होती है, उसका भी असर होता है फिर मानव के कोमल मन पर और फिर नारी के मृदुल मानस पर भला विफल कैसे हो सकती है? वह पुनः प्रहार करती है—

—अरेः सपत्नी पुत्रस्य वृद्धि मृं त्योरिवागताम्

'सौत का पुत्र, शत्रु होता है उसकी समृद्धि तुम्हारी मृत्यु है। तेरा पति मुँह से धर्म की बातें करता है पर है शठ, मुसकान के रजतपात्र से मीठी बातों की मिठाइयाँ तुझे खिलाता है पर है दारुण।' मन्थरा का यह प्रहार भी व्यर्थ गया, पर वह हतोत्साहित नहीं हुई, संभलकर वह पुनः चोट करती है। वह

विविध रूपों में कौशल्या के सुनहले सौभाग्य का चित्र खींचती है—'सुभगा किल कौसल्या' सौभाग्यशालिनी है कौशल्या ! कौन उसकी प्रशंसा कर सकता है ? जिसके पुत्र की स्तुति करेगा तेरा पुत्र और तुम जिस कौशल्या की दासी बनकर उसके सामने खड़ी रहोगी । पर आश्चर्य, मन्थरा का यह प्रहार भी खाली गया । कैकेयी श्रीराम के गुणों का बार-बार बखान करती है—

रामस्यैव गुणान् देवी कैकेयी प्रशशंसह । ८-१३
धर्मज्ञोगुणवान् दान्तः कृतज्ञः सत्यवान् शुचिः ।
रामो राजसुतो ज्येष्ठो यौवराज्य मतोऽर्हति । १४ ।

'राम धर्मज्ञ, गुणवान्, जितेन्द्रिय, कृतज्ञ, सत्यवान्, पवित्र हैं, ज्येष्ठ राजकुमार हैं, वह राज्य पाने का अधिकारी हैं । कुब्जे तू क्यों सन्तप्त है ?

इतना कह कर कैकेयी अपना सुनहला स्वप्न सुना बैठी—

भरतश्चापि रामस्य ध्रुवं वर्षशतात्परम् ।
पितृ पैतामहं राज्य मवाप्स्यति नरर्षभः ।—१६ ।

"अरी मन्थरे, राम के पश्चात् भरत राजा बनेगा, परम्परागत सूर्यवंश का वैभवशाली शासन-सूत्र मेरे पुत्र के हाथों में आयेगा ?"

कैकेयी के इस कथन ने मन्थरा को आगे बोलने का बल दे दिया । मन्थरा ने देखा, रानी होकर राजधर्मों से कितनी अनभिज्ञ है । उसने लम्बी गरम उसास ली, अपना माथा पीटती हुई कैकेयी से बोली—

भविता राघवो राजा राघवस्य च यः सुतः
राजवंशात्तु भरतः कैकेयि ! परिहास्यते ।—२२ ।।

अरी भोली यदि ऐसा होता तो मुझे दुःख क्यों होता, यह राजतन्त्र है, राजधर्म है कि राघव राजा होगा, उसके बाद उसका पुत्र राजा बनेगा । भरत तो राजवंश से सदा के लिये अलग हो जायगा । तुम, तुम्हारा भरत और भरत की सन्तानें, नौकर चाकर हो सकती हैं राजा नहीं, क्योंकि—

नहि राजसुताः सर्वे राज्ये तिष्ठन्ति भामिनि ।

हे भामिनि ! राजा के सब पुत्र राज्य पर नहीं बैठते, ज्येष्ठ पुत्र ही बैठता है । वह राजा बनता है, उसके बाद राजा बनता है राजा का बेटा, शेष भाई सेवक होते हैं, शासक बनेंगी राम की सन्तानें, सोने का मुकुट उन्हीं के माथे पर होगा, राज्य की सम्पूर्ण प्रजा उसी के सामने झुकेगी । तेरा पुत्र भरत तुझसे दूर है, तेरे प्यार से वंचित, तुम कौशल्या के पुत्र को प्यार देती हो, वह रात दिन तुम्हारे समीप मंडराता रहा है, स्पष्ट ही इसमें राजा और कौशल्या की चाल है । अपने पुत्र को तुमने प्यार से, अपने सामीप्य से वंचित किया और राजा ने राजवंश से ! सचमुच—

—सन्निकर्षान्तु सौहार्दं जायते स्थावरेस्वपि

समीप रहते रहते अचेतनों में भी परस्पर स्नेह हो जाता है । लता, गुल्म पादपों में यह बात देखी जा सकती है । समीप न रहने से चेतनों में भी परस्पर प्रेम नहीं रहता ।

मन्थरा की यह अन्तिम चोट काम कर गयी, कैकेयी के

हृदय से नयनाभिराम श्रीराम की छवि को छीन लिया, उसके रामगुण-मणि-मण्डित भाव-प्राङ्गण से गुण मणियों को बुहार फेंका और उस स्थान पर बिछा दिये अवगुणों के कंकड़ पत्थर, स्नेह से शीतल मानस में द्वेष की ज्वाला जला दी, कैकेयी का मुख रोषाङ्गार से दहक उठा—

मन्थरा ने देखा तो और पलीता लगा दिया—

दर्पान्निराकृता पूर्वं त्वया सौभाग्यवत्तया ।
राममाता सपत्नी ते कथं वैरं न यापयेत् ।।

तुमने पूर्व में अपने सौभाग्य के दर्प से पट्टमहिषी कौशल्या का मान मर्दन किया है, वह जब ऐश्वर्य की स्वामिनी बनेगी तो क्या वह तुमसे बदला नहीं लेगी ? उसकी फलशालिनी भाग्य-लता पर अंगारा बरसा दो, भरत को दिलाओ राज्य, राम को भेजो वन में, इसका सोचो उपाय । कैकेयी के मन में श्रीराम के प्रति जितने मधुर भाव थे, उन्हें चूर कर दिया । कैकेयी ने अपना भाग्य, कुब्जा के कुटिल करों में अर्पित कर दिया ।

सचमुच कैकेयी के मन में मन्थरा के प्रति आरम्भ से ही कितना आश्चर्यजनक विश्वास रहा है, यह बात केवल इतने से स्पष्ट हो जाती है कि दशरथ द्वारा दिये वरदानों की बात उसने केवल मन्थरा को ही बतायी और वह उस घटना को अत्यन्त महत्वपूर्ण समझ कर अपने मन में सँजोकर रखती रही ।

मन्थरा दासी है, पर वह सामन्तशाही जमाने की या नवाबी जमाने की अथवा आजकल के खुशामदखाने में पली घर में झाड़ू लगाने वाली या गुलामी करने वाली लौंडी-बांदी

नहीं है. अतः बड़े घरानों में बात बात पर [illegible] का ढोंग रचने वाली दासी से उसकी तुलना करना अविवेक ही होगा।

कैकेयी ने उसकी प्रशंसा में कहा—

> पृथिव्या मसि कुब्जानामुत्तमा बुद्धिनिश्चये।
> त्वमेव तु ममार्थेषु नित्य युक्ता हितैषिणी। ९-३८॥

कैकेयी जब महलों में चलती है तो उसके आगे मन्थरा चलती है—

> अग्रतो मम गच्छन्ती राजसेऽतीव शोभने।

'मन्थरे ! पृथ्वी में जितनी कुब्जा हैं उनमें तुम सर्वोत्तम हो, तेरी बुद्धि निर्णय लेने में अद्वितीय है, तुम मेरी सदा से नित्य हितैषिणी हो। इसीलिये जब तुम मेरे आगे-आगे चलती हो तो अत्यन्त शोभा पाती हो।'

को न कुसंगति पाइ नसाई

शास्त्र का गम्भीर आदेश है 'सङ्गः सर्वात्मना त्याज्यः' यदि यह सम्भव नहीं तो 'सद्भिरेव हि कर्त्तव्यः', सत्पुरुषों का सङ्ग उचित है। इसके आगे हम इतना और जोड़ना चाहते हैं कि यदि सत्पुरुष का संग न भी प्राप्त हो, तो कोई भारी संकट नहीं; पर कुसङ्ग का त्याग सर्वथा आवश्यक है। 'सङ्ग' तो मानव का जन्मदाता है, वह उसी से पलता एवं पोषण पाता है। वह सङ्ग सामान्यतया सबको सर्वत्र प्राप्त है। हाँ, सत्सङ्ग के सम्बन्ध में ऐसी बात नहीं। यद्यपि गोस्वामी तुलसीदास जी कहते हैं—

सबहिं सुलभ सब दिन सब देसा।

पर यह सुलभता सबके लिए सुलभ नहीं। यह उनके लिए है जिनकी दृष्टि में सत्सङ्ग-संगम का स्वरूप स्पष्ट है, मार्ग निश्चित है एवं उसमें स्नान करने का संकल्प उदित है। सामान्य जन के लिए तो दुर्लभ ही नहीं दुर्लभतम है—

दुर्लभो मानुषो देहो देहिनां क्षणभंगुरः।
तत्रापि दुर्लभं मन्ये वैकुण्ठप्रियदर्शनम्॥

(भा० ११।२।२९)

दुर्लभ वस्तुओं में भी दुर्लभ है प्रभु के प्रिय का दर्शन।

गोस्वामी जी कहते हैं, मानव शरीर सुरदुर्लभ है, सत्संग का 'साज' तो और भी दुर्लभ है—

दुर्लभ साज सुलभ करि पावा ।

अब रह गया कुसंग । उसकी तूती सर्वत्र बोलती है, सर्वत्र निवास करता है वह ।

मानस में तीन नगरों का वर्णन है । वे हैं अयोध्या, मिथिला और लङ्का । मिथिला में कुसंग नहीं है क्योंकि वहाँ कोई असत् पुरुष नहीं रहता । वह सन्तों का नगर है । इसीलिये वहाँ महाभावरूपा मूर्तिमती भक्ति भगवती सीता का आविर्भाव हुआ, लंका को छोड़िये, श्री अवध को लीजिये । वहाँ एक ऐसा प्राणी है जिसे 'असत्' कहा जा सकता है । गोस्वामिपाद ने उसे 'नीच' और 'कुजाति' जैसे विशेषणों से सम्बोधित किया है । वैसे श्री अवध में सब पुरुष रत्न हैं, नारी रत्न हैं—

मनि गन पुर नर नारि सुजाती ।
सुचि अमोल सुन्दर सब भांती ।।

पर रत्नों में भी कुत्सित जाति के होते हैं । प्रश्न होता है कि मानसकार की परिभाषा में नीच कौन है ? ध्यान पूर्वक देखने से ग्रन्थकार का अभिमत स्पष्ट शब्दों में मिल जाता है । वे कहते हैं—जो 'देखि न सकहिं पराइ विभूती'—दूसरे को उन्नत देखकर जो दग्ध हो उठता है वह नीच है ।

नीच की परिभाषा कितनी सटीक है । जिसे उन्नत भाव सह्य नहीं, उसकी मनोभूमि सदा अवनत होगी, उस पर टिका

प्राणी अ[illegible] है।

जो उन्नति से वंचित होकर उन्नत स्थिति के लोगों के प्रति ईर्ष्यालु हो उठा है, असहिष्णु हो गया है, उसकी ईर्ष्या समझ में आती है, वह अस्वाभाविक नहीं। अवश्य ही वह उसकी दुर्बलता है पर असह्य नहीं, वह एक रोग है पर असाध्य नहीं। किन्तु जो व्यक्ति समुन्नत स्थिति में पहुँचकर दूसरों को उस स्थिति से वंचित देख या उस स्थिति से वंचित कर प्रसन्न होता है, उसका स्तर क्या होगा ? स्पष्ट है, वह अपने उन्नत पद के सुख से सुखी न होकर तृप्त होता है अवनतों के अभावों से, उनकी पीड़ा से फलतः वह उच्चस्थ न होकर निम्नस्थ ही रहेगा। उसे 'नीच' कहना सर्वथा संगत है। इस भावभूमि पर पूर्ण प्रकाश डालता है ग्रन्थकार का निम्नस्थ निष्कर्ष वाक्य--

> ऊँच निवास नीच करतूती।
> देखि न सकहिं पराइ बिभूती॥

इस सन्दर्भ में मानस की मन्थरा को देखिये। कितने ऊँचे पद पर स्थित है वह। एक विश्लेषण से स्पष्ट हो जायगा।

चक्रवर्ती सम्राट् दशरथ का शासन-प्रभाव चतुर्दश भुवनों पर छाया है--

> भुवन चारिदस प्रकट प्रभाऊ।

उनकी यह दिगन्त-व्यापिनी शासन-शक्ति नियन्त्रित थी, केकय राजकुमारी कैकेयी की भृकुटि-भंगिमा से; महाराज का कथन स्वतः साक्षी है--

प्रिया प्रान सुत सरबस मोरे ।

परिजन प्रजा सकल बस तोरे ।

कितनी असीम सामर्थ्य है उसकी । अवध राज्य का वैभव, उससे अन्तरंग प्रजा, प्रजा से अन्तरंग परिजन और परिजनों से भी अन्तरङ्ग पुत्र तथा पुत्रों की अपेक्षा अन्तरङ्ग था स्वयं का प्राण, वह सबका सब मुट्ठी में था उस भामिनी के । ऐसी असीम सत्ता की अधीश्वरी कैकेयी क्रीडामृग थी मन्थरा की । जिसके वाग्बाण से विद्ध होकर छटपटा गयी थी वह और जिसके सुनहले सपनों में सजे शवरीगान से मुग्धा मृगी-सी निश्चय कर बैठी थी--

परउँ कूप तव बचन पर सकउँ पूत पति त्यागि ।
कहसि मोर दुख देखि बड़ कस न करब हित लागि ।।

वैसे वह दासी थी, कुरूपा दासी--

'नाम मन्थरा मन्दमति चेरी केकइ केरि' ।

पर वह कहने को चेरी है । वस्तुतः वह उसकी अभिन्न-हृदया सखी है । कैकेयी ने कहा है--

कहा कहहुँ सखि सूध स्वभाऊ ।

और ऐसी सखी है जो स्वप्न में भी कोप भाजन नहीं बनी--

सपनेउ तोपर कोप न मोही ।

वह चेरी के रूप में केकय देश से साथ आयी है पर वह चेरी है चतुर-चूड़ामणि । इस दृष्टि से मन्थरा का प्रवेश राज-

महलों में अप्रतिम था, उसकी स्थिति बड़ी उच्च थी। सौभाग्य

भी उसका असीम था। राम प्राणों से भी प्रिय थे कैकेयी के। अतः उनका क्रीड़ा-केन्द्र था कैकेयी का प्राङ्गण। कैकेयी की दासी को श्रीराम की कमनीय क्रीड़ाओं के दर्शन का सुअवसर प्राप्त था पर आश्चर्य—

ऊँच निवास नीच करतूती।
देखि न सकइ पराइ बिभूती॥

सारे राष्ट्र का शासन-चक्र मन्थरा घुमा सकती है, यह स्वर्ग के देवता भली भाँति जानते थे। उनकी भेजी शारदा न महाराज दशरथ के समीप गयी, न मन्त्रिमण्डल के पास और न कैकेयी के निकट गयी, उसने चुना मन्थरा को। यदि अयोध्या के समग्र दुष्काण्ड को मन्थरा के द्वारा अभिनीत एवं श्रीराम के द्वारा निर्दिष्ट माना जाय तब भी मन्थरा की मौलिकता मन्द नहीं पड़ती। आखिर पात्रता, योग्यता पर तथा व्यक्तित्व पर निर्भर रहती है। कुम्भकर्ण की भूमिका किसी दुबले-पतले व्यक्ति को नहीं दी जा सकती। सरस्वती यह भूल कैसे करती? सरस्वती अपनी ओर से कुछ नहीं करती, वह तो उभारती है गुणों या अवगुणों को। ये सारी चीजें तो मानव को विरासत में स्वतः प्राप्त होती हैं। अतः शारदा ने उसकी मुख्य मूल वृत्तियों को ही उभारा। गोस्वामी जी लिखते हैं—

दीख मन्थरा नगर बनावा। मंजुल मंगल बाज बधावा॥
पूछेसि लोगन कहा उछाहू। राम तिलक सुनि भा उर दाहू॥

श्रीराम की मंगलमय पुरी अलंकृत की गयी, उसमें मंगल

वाद्य बजे उठे तो मन्थरा के मन पर साँप लोट गया। उत्सव का मूल कारण राम-तिलक है यह जानकर तो वह जल उठी।

यहाँ दुर्जन की एक अच्छी-सी पहचान दी गई है। मन्थरा पहले-झुंझलाती है अयोध्या की सजावट पर, फिर, उस अगाध उत्साह का मूल राम-तिलक है--आनन्द का कारण ईश्वर-सम्बन्धी समारोह है, यह जानकर हृदय से जल उठती है। केवल जलती ही नहीं, दिन के प्रकाश को रात में परिणत करने का उपाय खोजती है। बताइये ऐसे व्यक्ति को किस नाम से पुकारा जाय ? तुलसीदासजी कहते हैं, वह 'कुजाति' हैं, कुबुद्धि है--

करइ बिचार कुबुद्धि कुजाती।
होइ अकाज कवन बिधि राती।

जो इसका परिचय इसके पूर्व दिया गया है, वह मन्थरा के चरित्र पर पर्याप्त प्रकाश डालता है। परिचय था--

नाम मन्थरा मन्द मति चेरी केकइ केरि।
अजस पेटारी ताहि करि, गई गिरा मति फेरि॥

क्या ही उचित चुनाव है। 'मन्दमति' की मति फेर देना कितना सरल और स्वाभाविक है।

मन्थर शब्द का अर्थ है मन्द, उसका नाम मन्द है। उसकी बुद्धि मन्द है--'मन्दमति', उसका काम मन्द है--'चेरी केकइ केरि,। मन्द का अर्थ है नीचा होना--झुकाव। अर्थात् तीन जगह से झुकी है, इसीलिये तो वह कुबड़ी है, तीन स्थानों से टेढ़ी। ऐसा व्यक्ति सरल-सीधा तो हो ही नहीं सकता जिसके मन में कुछ और, वाणी में कुछ और तथा कर्म में इसके विपरीत

होता है वही तो दुरात्मा है। जो सरल है वही सज्जन है। मन्थरा में इस सारल्य का सर्वथा अभाव है। मन्थरा की वक्रता-कुटिलता की अवतारणा कैकेयी में हुई तो उसे सब ओर से इसी विशेषण से पुकारा गया। कहाँ से आया यह कुटिलपन ? उत्तर दिया गया——

'कुटिल प्रबोधो कूबरी' या 'कोटि कुटिल मनि गुरू पढ़ाई'।

इस कोटि कुटिल 'मणि-गुरु' को ज्ञान दिया शत्रुघ्न ने। वस्तुतः शत्रुघ्न नाम इसी ने सार्थक किया। राम भक्तों का प्रतारण, मान-मर्यादाओं का ध्वंस करने वाला शत्रु इससे बढ़कर और कौन होगा जो पावनपुरी में रहकर अपावन रहा। पुरी उसे प्रभावित न कर सकी, पुरी को उसने प्रभावित किया। सुख की शत-शत सरिताओं के आश्रय अवध-अंबुधि में आग लगा दी। प्राणों के प्राण श्रीराम अयोध्या छोड़ गये तो वह प्राण-हीनों की नगरी बन गयी—'घर मसान परिजन जनु भूता'। उस श्मशान में खिली लता की तरह वसन-विभूषणों से बनी मन्थरा मुदित थी—'मनहुँ मुदित दव लाइ किराती' मन्थरा का जादू चल गया। अयोध्या हँस रही थी बाहर और रो रही थी भीतर—अस अभिलाष नगर सब काहू। कैकय सुता हृदय अति दाहू॥ बड़े-बड़े लोगों में, बड़े-बड़े घरों में इस प्रकार निम्न कोटि के—कुटिल पात्र प्रायः आये दिन अकाण्ड ताण्डव के बीज बोया करते हैं। ऐसे मुँह लगे लोगों से समाज को सावधान करते हुए साधु शिरोमणि गोस्वामी जी ने गहरी साँस लेते हुए खेद व्यक्त किया—

को न कुसंगति पाइ नसाई। रहइ न नीच मतें चतुराई॥

भुज उठाय प्रण कीन्ह

—लोक की भाव धारा यह है कि—

नीति की, क़ायदा-कानून की जहाँ सख्त परत रहती है, वहाँ—प्रीति की मृदुल वल्लरी नहीं पनप सकती, प्रीति के पंछी को—फँसाने वाला जाल है नियम। इसी प्रकार जहाँ प्रीति का पसारा होता है वहाँ नीति का घेरा नहीं होता। परमार्थ के उज्ज्वल पद्म में स्वार्थ की गन्ध कहाँ? और कैसे फल-फूल सकता है स्वार्थ के गमले में परमार्थ का कल्प-पादप?

पर इस बूढ़ी भावना का कायाकल्प करना हो तो तुलसीदास के 'मानस' का रसायन पान आवश्यक है। गले के नीचे उतरते ही आपको समझते देर न लगेगी कि नीति की छाती में ही प्रीति की धड़कने खेला करती हैं। प्रीति का रस-फल, नीति के छिलकों की गोद में ही माधुर्य का रस-कूप बनकर लुभावना रूप, लोगों के सम्मुख रखता है।

लोक में आराम-प्रेमी देखता है स्वार्थ में परमार्थ किन्तु राम प्रेमी देखता है परमार्थ में स्वार्थ। तुलसी के ईश का हृदय तो तीर्थराज प्रयाग है, दोनों के संगम का, दोनों के सामञ्जस्य का, दोनों के मर्म-मधुर माधुर्य का। उस प्रयाग के भरद्वाज हैं गोस्वामी तुलसीदास जी, जिनका सरस मानस मयूर-माधुरी ध्वनि में कहता है—

नीति प्रीति परमारथ स्वारथ।
कोउ न राम सम जान जथारथ ॥

नीति और प्रीति का मेल, परमार्थ और स्वार्थ का संगम कैसे होता है, इसका यथार्थ बोध श्रीराम को छोड़ और किसे हो सकता है ? हम देखते हैं, शतशलाकाशोभित दुग्ध-फेनोज्ज्वल श्वेत-छत्र की छाया में पला कोमलाङ्ग कुमार, वन-वृक्षों की छाया का आश्रय लेता है, उसके चरित में विभव-भोग, त्याग की गोद में विनोद करते हैं, वह विरुद्ध भावों की शबलता का मर्मज्ञ क्यों न होगा ?

इस तथ्य की झाँकी मानस के कई प्रसंगों में खूब मिलती है। एक प्रसङ्ग प्रस्तुत है, विचरण-प्रिय राम के रमणीय चरण, वन-प्रान्तों में अपनी छाप छोड़ते घूम रहे हैं। तीनों पूज्य पथिक चित्रकूट से आगे बढ़ रहे हैं—घोर वन की ओर। आगे-आगे राम हैं, उनके एक कन्धे पर है अनुगामिनी प्रिया का मृदुल पाणि-पल्लव, दूसरे कन्धे पर है—दीनों की हाय से उठी आग की लपट का प्रकट रूप कठिन कोदण्ड। प्रियतम के नीरद-से तन की छाया में पीछे-पीछे चल रही हैं वैदेही, वैदेही के मञ्जु चरणों में अनुराग का राग गा रही है नूपुरों की झनकार! युगल मूर्ति के चरणों का अनुसरण लक्ष्मण कर रहे हैं। तत्वत्रयी के दोनों पार्श्व में चल रही है—मुनि-मण्डली, विचित्र छवि है। तत्वदर्शी देखता है—ज्ञान मण्डल से आवृत, भक्ति से आश्रित एवं वैराग्य से अनुगत साक्षात् सच्चिदानन्द जा रहा है। देश भक्त देखता है तो कहता है—'पुञ्जीभूत तपःपूत त्याग के तेज से वर्तुल-विभा मण्डित, शक्ति के स्पर्श से स्फूर्तिमान्, मूर्तिमान् बलिदान से

अनुप्राणित [illegible] रहा है। युग युग का इतिहास देखकर कहता है—वसुन्धरा के वक्ष में प्राण-पवन-सा उच्छ्वसित काल-खण्डों पर अखण्ड शासन करने वाला सूर्य वंश का अमर इतिहास पग बढ़ाता जा रहा है। उनकी अमोघ महिमा के गान में मुनियों के मंगलमय मुख संलग्न हैं—

> अस्तुति करहि सकल मुनि वृन्दा।
> जयति प्रनतहित करुना कन्दा ।।

इस स्तुति ने प्रणतहित करुणाकन्द श्रीराम के कानों में करुण-पुकार का काम किया। कानों तक फैले राम के लोचन बेचैन हो गये कि कहाँ किस पर करें करुणा-वर्षण ? मानों इसका उत्तर था सामने पड़ा छोट-सा अस्थि-पर्वत। श्रीराम का हृदय नवनीत करुणा की आँच से पिघल गया। मुनियों की ओर मुड़ कर पूँछने लगे—

> अस्थि समूह देखि रघुराया।
> पूछा मुनिन्ह लागि अति दाया ।।

मुनि-वृन्द ने निवेदन किया—मुनियों का मुख आपका गुण गान जानता है आपकी स्तुति जानता है, दुर्जनों की निन्दा-स्तुति से वह दूर है, आप सर्वज्ञ हैं—घट-घट वासी हैं, आपसे क्या कहना ?

> जानतहू पूछहु कस स्वामी।
> सबदरसी तुम्ह अन्तर जामी ।।

मुनि-वचनों के उत्तर में श्रीराम का सहज-गम्भीर स्वर अधिक गम्भीर हो गया, बोले—आज मैं घट-घट वासी नहीं,

वनवासी के रूप में तुम्हारे सामने आया हूँ । वनवासी की पीड़ा का पता घट-घट वासी नहीं वनवासी ही लगा सकता है । कौन सुनायेगा घट-घटवासी को अपनी व्यथा ? वह किसी की सुनता है ?—

अस प्रभु हृदय अछत अविकारी ।
सकल जीव जग दीन दुखारी ॥

मैं वनवासी हूँ । मुझे पता है, वन व्यथा का—उसकी भयावह शून्यता का—

'डरपहिं धीर गहन सुधि आये' ।

मैं जानता हूँ, आप अन्तर्यामी के घट-घटवासी के विश्वासी क्यों बन गये हैं और क्यों आप वाह्य-विश्व पर अविश्वस्त होकर उसके आन्तरिक झीने परदे में छुपने के आदी हो गये हैं । कारण प्रत्यक्ष है । वसुन्धरा का हरित हृदयाञ्चल-सा वन प्रान्त, आज जीवनान्तक बन गया है । उसकी भूमि भयावह है, कराल-व्यालों से; उसकी सघन वन श्रेणी मृत्यु की जिह्वा-सी है, दुष्ट प्राणियों के पीडन से; उसकी ध्वनि-रमणीयता विषाक्त है, हिंस्र प्राणियों की हृदय-कंपी कठोर कंठ-ध्वनि से । ऐसे वायु मण्डल में भय पीडिता वाणी, अन्तर्यामी का सहारा क्यों न खोजेगी ? और यह स्वाभाविक है । मानव के सामने विश्व का बहिरङ्ग जब विद्रूप हो जाता है तब वह उसके अन्तरङ्ग के प्रति आशावान बन जाता है, यह उसकी पुरातन प्रकृति है ।

मेरी दृष्टि में यह पलायन है । और पलायन से जागतिक बहिरङ्ग का विकृत वैषम्य, सम नहीं होता, वह होता है पौरुष

से। राम का पौरुष [illegible] के लिये समर्पित है, वह तपः पूत जीवन का प्रहरी बनकर आया है। यह राम नही, तपस्वियों को दी गई पीड़ा से मर्माहत मूर्तिमान् ब्रह्म वर्चस्व धनुर्धर हो उठा है, वह ढूंढ़ रहा है अपना लक्ष्य। आप निर्भय होकर उसकी ओर संकेत करें। इस ममता और आश्वासन से मुनियों का मन जैसे फूट पड़ा। पीड़ित पुत्र की पीड़ा जैसे मां की ओर, बाँध की बाढ़ द्वार की ओर जैसे दौड़ती है वैसे ही ऋषियों की करुणा शतधा होकर मुख से फूट पड़ी श्रीराम की ओर—

निसिचर निकर सकल मुनि खाये।

बस फिर क्या था—

सुनि रघुनाथ नयन जल छाये।

यह है श्रीराम की प्रीति ! ऐसा है जगदीश्वर का हृदय, ऐसी हैं दीनबन्धु की आँखें ! हृदय का प्रेम पिघलकर आँखों में उमड़ा, आँखों में आँसू बनकर अस्थियों पर जो बरसा मानों मृत-मुनियों के अस्थि-पञ्जरों पर राम की हृदय-गंगा जा उतरी तथा उनके पिण्डदान करने की प्रतिज्ञा लेकर श्रीराम का भुज दण्ड उठा—

निसिचर हीन करउं महि, भुज उठाइ पन कीन्ह।
सकल मुनिन्ह के आश्रमन्हि, जाइ जाइ सुखदीन्ह॥

श्रीराम तो लोक नायक हैं। उनकी प्रतिज्ञा में उनका 'अहं' नहीं लोक का अनुभव रामबाहु का आश्रय पाकर गूँजा था। वह लोकानुभव, 'हाथ उठना' या 'हाथ उठाना' इस कहावत के रूप में अद्यावधि मुखरित है। जब अपराधी के अपराध अपनी

सीमा पार कर जाते हैं तब उसे क्षमा करने की सीमा भी समाप्त हो जाती है। वह दण्डनीय हो जाता है। उससे कह दिया जाता है अब तुम पर हमारा हाथ उठेगा, दण्ड पात्र हो तुम।

तात्कालिक स्थिति ऐसी थी। राक्षस पशु-भक्षी से नर-भक्षी बन गये थे। सामान्य नर-भक्षी नहीं मनन शील मुनियों के भक्षक—उन मुनियों के भक्षक, जिनका अन्तः प्रकृति के पर्ण-पर्ण की कल्याण-कामना से पूर्ण था, 'धरा का कण-कण मधुमय हो—मधुमत्पार्थिवंरजः' इस भव्य भावना का भावुक था, जो ऋषि वर्ग विश्व की उज्ज्वल आशा-हंसिनी के मानस सर थे, साथ ही थे नैतिकता के निर्मल निर्झर। उनका वध! और वह भी सामूहिक वध? सहन न हुआ विश्वात्मा से, दण्ड देने के हेतु शक्तिमान् का वज्र दण्ड-सा बाहु दण्ड उठ पड़ा—'अब तुम्हें क्षमा नहीं किया जा सकता—'निसिचर हीन करउँ महि भुज उठाइ।'

तपोधनों के अभिमुख उठा श्रीराम का हाथ दूसरा संकेत भी दे रहा था—विद्वानों को, प्रतिभा के धनी क्रान्तिदर्शी कवियों को, वाग्मी वक्ताओं को एवं कथाकारों को कि 'अब तक तुम्हारे चित्रणों में प्राधान्य था चरण-चारणता का, सूक्ष्म कटि, वक्ष एवं शंख-संनिभ ग्रीवा का, राका मयंक-सम मनोहर मुख वर्णना का, पर अब पराक्रम सिन्धु मर्यादा धुरन्धुर धनुर्धर राम के उठे हुए भुज दण्ड की गौरव गाथा लिखो गाओ, चित्रित करो'। मेरे नख-शिख वर्णनों में भी आज सर्वोपरि वर्णनीय है मेरा विशाल-बाहु—सबसे ऊँचा सर्वोत्कृष्ट वर्णन का विषय। कारण, प्राणिमात्र

के अकारण द्रोही तथा विश्व की सांस्कृतिक निधि का निधन करने वाले विध्वंसियों के ध्वंस का संकल्प लेकर ऊर्जस्वल बाहु को उठा रहा हूँ—निसिचर हीन······

श्रीराम का भुज जब उठता है तो न जाने क्या क्या बांट देता है। वह अपने उठने का एक रहस्य और भी देता है।

उसकी पृष्ठ भूमि इस प्रकार है। ऋषियों की साधना उनके तपःपूत हृदय की भावना निरीह होती गई पंगु हो गई, कारण, क्रूर कर्म एवं अपवित्र अन्तःकरण वाले जन विजयी होते गये। उनकी जीवन-लता का फलोन्मुख होने के पूर्व ही उन्मूलन कर दिया गया—'निसिचर निकर······'फलतः उन्हें अपने साधनों में असामर्थ्य का विश्वास तथा स्वयं में अविश्वास फैलने लग गया। उनका तप उन्हीं को तपाने लगा। काननों की सघन छाया में भी वे तप उठे, व्याकुल हो उठे। उन असहाय क्षणों में मुनियों के सन्तप्त मस्तकों पर रघुवीर का कर कमल छत्र बनकर तन उठा शीतलता देने, अभयदान देने—

निसिचर हीन करउँ महि, भुज उठाइ पन कीन्ह।

इसी की सार्थकता में कहा गया—

सकल मुनिन्ह के आश्रमन्हि, जाइ जाइ सुखदीन्ह ।।

इसी सन्दर्भ में एक हिन्दी के छन्द की छटा दर्शनीय है—

दैत्य दल दाहैं, धीर धर्म की धुजाहैं,
रिद्धि-सिद्धि अनुजा हैं जे हरन परपीर की।
सुख-सरिता हैं, कोटि काम करिताहैं,
महामोह हरिता हैं, हरिताहैं भवभीर की।

विक्रम अथाहैं, दान-वीरता निवाहैं,
नित श्याम जपु चाहैं जे धरन धनुतीर की।
शेषहू सराहैं सदा संकट नसाहैं,
करें सन्तन पर छाँहें धनि बाहैं रघुवीर की।

श्रीराम के भुजोत्तोलन का एक मर्म-पृष्ठ और खुल पड़ता है जब हम उत्प्रेक्षण के परिवेष में भुजाओं की ओर अधिक गहराई से देखते हैं। सामुद्रिक शास्त्र के अनुसार हमारा हाथ भाग्य का बीजक-पत्र है-भूत भविष्य एवं वर्तमान काल की घटनाओं का सूचना-केन्द्र है, मानव का महाभाग्य उसकी मुट्ठी में है। धार्मिक पुरुष प्रातः उठकर अपने हाथ की ओर देखकर उसकी अद्भुत-महिमा का स्मरण करता है—

कराग्रे वसते लक्ष्मीः कर—मध्ये सरस्वती।
कर—मूलेतु गोविन्दः प्रभाते कर दर्शनम्॥

ऐसा है रहस्य-रेखाओं से खचित मनुष्य का हाथ! वे हाथ सदा नीचे की ओर झुके रहते हैं—धरा की तरफ नत रहते हैं। मानों मानव का भाग्य-प्रकाशक हस्त पृथ्वी का मुख देखा करता है—धारण-पोषण करने वाली धरती का संकेत चाहा करता है। यदि धरती सुन्दर तो भाग्य सुन्दर, धरती सस्य श्यामला तो भविष्य का उपवन नयनाभिराम! क्योंकि धरती का सौन्दर्य सस्य में है—

ससि सम्पन्न सोह महि कैसी।
उपकारी कै सम्पति जैसी॥

इसके विपरीत, यदि धरती मानवों की-मनन शीलों की अस्थियों से भर उठती है—वीभत्स हो उठती है तो मनुष्य का

दुर्भाग्य विहँस उठता है। यही तो देखती हैं भुजाएँ। उन्हीं पर तो है धरती की रक्षा का भार। जब सामान्य जन की भुजा किंकर्तव्य विमूढ़ होती है तो विराट की बाँह-रक्षण-दक्ष, क्षत्रियों की जन्म दात्री भुजा–(बाहू राजन्यः कृतः) पृथ्वी-पीड़ा नहीं सह सकती और तब धरती के दुर्भाग्य का दमन करने के लिये विराट रूप राम का प्रतिज्ञा-दृढ़ मुष्टिवद्ध भुजदण्ड आकाश में तन उठाता है–

भुज उठाइ पन कीन्ह।

श्रीराम की भुजा उठी गगन में-आकाश में––तो आकाश वासी देव आश्वस्त हो गये। देवता तो दिव्य ज्ञान सम्पन्न होते हैं। वे थोड़ा-सा संकेत पाकर ही भविष्य की सूचना पा लेते हैं। गगनोन्मुख राम-बाहु ने उन्हें संकेत दिया। भुजा का देवता इन्द्र होता है। इन्द्र पराजित हो चुका है रावण–तनय मेघनाद से। समस्त लोकों में लज्जानत हो चुका है वहाँ जब मनुष्य की बाहों का मालिक ही नत है तो उसकी भुजाएँ अधोमुख क्यों न रहेंगी ? किन्तु नरलोक-नायक राम ने अपनी भुजा उठाई–अपनी क्यों, मानव की नत एवं निष्क्रिय भुजा को ऊपर उठाया–मानवों के भाग्य को उन्नत किया, मनुष्य की प्रचण्ड शक्ति को गगन में फहराते हुए उसे सुरेन्द्र-स्पृहणीय बनाया–सर्वोपरि बनाया। अतः राम की उठी भुजा, मानव की ऊर्ध्वगत स्थित वह भुजा है जिसने ऐसा अलौकिक कार्य किया जिसे न कोई तपोधन कर सका न ऋषि-मुनि, न-सिद्ध चारण और न देव-देवेन्द्र ही कर सके। मानव-कुल तिलक पुरुषोत्तम का उठा भुजदण्ड,-अन्याय-नाशी नर

बाँकुरे की वह बाँह, परद्रोही, द्वेषी एवं दम्भियों के सिर पर तथा आततायी पिशाचों के मस्तक पर पविपात करने को सदा-सदा उठी रहेगी।

पौरुष-पूत प्रतिज्ञा में नर राज रघुवीर की यह गर्जना, नर-हृदय में सुप्तसिंह से स्वाभिमान को प्रबुद्ध कर उसे खलों पर युग-युगों तक हुसकाती रहेगी—निसिचर………

मननीय है साथ ही नमनीय है माननीया यह राम-नीति। तुलसी के अनमोल बोल आज भी गुंजित हैं—

नीति प्रीति परमारथ स्वारथ।
कोउ न राम सम जान जथारथ॥

●

राम की आँखों में आँसू

जीवन में आंसुओं का बड़ा मूल्य होता है, मानवता के प्रहरी होते हैं वे। आँसू हृदय की गहराई से फूटकर बहने वाले वे झरने हैं जिनसे जीवन का उपवन हरा होता है। स्नेह के हरे-भरे वृक्ष की चोटी पर मुसकराने वाले फूल हैं आँसू। करुणा के औरस तनय ये अश्रु-विन्दु जब सीप-सी आँखों में मोतियों की लड़ी बनकर नयन तटों पर बिखर जाते हैं तो मानवता का खजाना समृद्ध होने की कामना करने लगता है।

ये आँसू दो प्रकार के होते हैं। एक हैं वे जो अवतार लेते हैं, दूसरे हैं वे जो जन्म लेते हैं। जन्म लेने वाले आँसू आते हैं तुच्छ लोगों की आँखों के उदर में। उनका जन्म-मरण दिन में कई बार होता है, आदमी का अपना अभाव, अपनी पीड़ा ही उनकी जननी होती है। हाँ, अवतार लेने वाले आँसू अजर अमर होते हैं, वे बार-बार जन्म नहीं लेते। उनका अवतार बड़ी साधना के बाद होता है। वे अपवित्र स्थान पर पैदा नहीं होते, पुण्य स्थल चाहिए। श्रीराम को प्रकट करना हो तो अयोध्या चाहिए। कहाँ होगा अमर आंसुओं का आविर्भाव ? ऐसे विलोभनीय लोचन किसके हैं, जिसका अन्तःकरण उनकी जन्म-भूमि बनेगा ? हम निःसंकोच कह सकते हैं कि जो धीर गंभीर

पुण्यात्मा है, जिनका अन्तःकरण तपःपूत, स्नेहक्षालित, एवं करुणा-कोमल है, साथ ही जहाँ साहस की सुरभि है, उमंगों का रंग है, दृढ़ संकल्प का विस्तृत धरातल है और जहाँ गाम्भीर्य है, जीवनव्यापी सुस्थिर सिद्धान्तों का, आलोक है सूझ-बूझ का, ऐसा हरित हृदय है आँसुओं के अवतार की जन्मभूमि।

इसका एक पक्ष और भी है। लोगों की सामान्य मान्यता यह है कि गम्भीर पुरुष वह है जिसकी आँखों में बिजली की चमक होती है बादलों की वर्षा नहीं। पुरुष के प्राणों में पौरुष का प्रवाह होता है अबला-सुलभ विलाप नहीं। रोना-धोना, आंसू बहाना, सिसकना, विलाप-करना ये सब नारी के लक्षण हैं। दौर्बल्य, अधीरता, असहाय स्थिति के संवाहक होते हैं अश्रु। यदि कोई ख्याति प्राप्त पुरुष विलाप करता है तो मानना होगा कि उसकी धीरता का दौर्बल्य है। वह प्रथम श्रेणी का महापुरुष नहीं। उसकी जीवन-सरिता का एक उथला पाट है। इस सम्बन्ध से तुलसी की चौपाई प्रमाण रूप में प्रस्तुत है—

सुख हरषहिं जड़ दुख बिलखाहीं।
दोउ सम धीर धरहिं मनमाहीं॥

इस मान्यता में एक गम्भीर विचार दोष है, मानव हृदय का यह चित्र अधूरा है, खण्डित है। सूखी आँखें मानव की नहीं दानव की हो सकती हैं। बादलों में बिजली और वर्षा का घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। हृदय और मस्तिष्क का समन्वय तो मनुष्यता का शृंगार है, पूर्ण पुरुष का अकाट्य परिचय है।

रह गयी गोस्वामी जी की चौपाई के प्रमाण की बात, वह

हमें भी मान्य है, पर सन्दर्भ के बिना अर्थ का अनर्थ हो जाता है। यहां एक लोक प्रसिद्ध सामान्य नियम का दिग्दर्शन है। जो लोग अपने सुख से सुखोन्मत्त और दुख के क्षणों में दुखी होकर किंकर्त्तव्य विमूढ़—हो जाते हैं, उनके लिए विशेष परिस्थिति में उपदेश-विशेष है यह. धैर्य बंधाने की अच्छी-सी शब्दावली है। यह अर्थ नहीं कि सुख के अवसर पर सुखानुभूति का और दुख के क्षणों में दुखानुभूति का अभाव जिसमें हो वह पुरुषधीर है। यह स्थापना तो उलटी हो जायगी। समवेदना शून्य मानव जड़ होगा चेतन नहीं। करुणा, दया और स्नेह के सारे प्रसङ्गों की मधुरिमा नष्ट हो जायगी और एक ववंडर उठ खड़ा होगा—दशरथ का विलाप, कौशल्या की करुणा, रघुवर-विरही पुरवासियों का करुण क्रन्दन, अपहृत वैदेही का विलाप, भरत एवं वैदेही की पीड़ा पर पवन कुमार का रो पड़ना, शिव की यह समवेदना—'दुखित भयेउं वियोग प्रिय तोरे।' सारे के सारे करुण-प्रसंग जड़ता की भूमि में उतर जायेंगे। और कौन साहस करेगा उक्त पुरुषों को जड़ कहने का ? वस्तुतः करुणा मानव हृदय का मूल्यवान् रत्न है। वह व्यक्त होती है आँसुओं के दर्पण में। कहा गया है कि परमात्मा सुख स्वरूप है, उसमें पीड़ा और किसी वस्तु के अभाव का सर्वथा अभाव है, वह आप्तकाम एवं पूर्णकाम है। उसकी आंखों में आंसू कहाँ ? पर यदि उसमें समवेदना, करुणा का अभाव होता तो उसका अवतार भी न होता। आविर्भूत होने में कोई भी तर्क संगत हेतु नहीं दिया जा सकता पर वह प्रकट होता है, और अनेक रूपों में। गोस्वामी

तुलसी[illegible] हैं, उनका गाम्भीर्य सागरोपम है, धीरोदात्त नायक हैं वे। उनका रोना तो बड़ा कठिन जान पड़ता है, पर सचमुच वे रोये—और बहुत रोये। आँसुओं से भीगा उनका मुख आज भी ओस कणिकाओं से भरे नील कमल के समान हमारे सामने है, हमारी संस्कृति के सामने है, लाख-लाख युग बीत जाने पर भी राम के आँसू भुलाये नहीं जा सकते। वे आंसू अमर हैं, उनका अवतार हुआ था राम के राजीव लोचनों में।

सीता के वियोग में सीतापति राम इतना रोये कि दण्डकारण्य गूंज गया, लक्ष्मण समझाते रहे, किष्किन्धा पर सुग्रीव ने समझाया—'तजहु सोच मन आनहु धीरा।' आदि-काव्य में सुग्रीव का कथन है, मेरी पत्नी भी अपहृत हुई है, और मैं वानर हूं, फिर भी आपकी तरह अधीर नहीं, आप महापुरुष होकर इतने कातर क्यों हो रहे हैं ?

संसार त्यागी गुहानिवासी विरक्त साधुओं ने जब वीर धीर राम को अधीर होकर रोते देखा तो उन्होंने अपने अनुरूप निष्कर्ष निकाला—स्त्री संग कितना भयावह है कि राम जैसे गम्भीर पुरुष को बुरी तरह विलाप करना पड़ा, संसार में स्त्री से दूर ही रहना चाहिए। ऐसी प्रेरणा भी ठीक है, राम का चरित्र सबके काम का है।

भोगियों ने निर्णय लिया कि विश्व में ईश्वर से भी नारी बड़ी है जिसे पाने के लिए परमात्मा भी विकल है, अशान्त है। ऐसी वस्तु सामान्य नहीं, संसार का सार है। बेचारे विषयी यह

नहीं सोच पाये कि राम रोते हैं अपनी पत्नी के लिये, अनन्य भावा भार्या के लिये, आश्रिता के लिये और अपनी प्राणार्पिता प्रिया के लिये। स्त्री या कामिनी के लिये नहीं।

राम का हृदयवेधी यह रोदन, देश की छाती में प्राणों का सामगान है, वह बताता है कि जब भारत की चारुचरित्रा, धर्मप्राणा, पतिप्राणा, सती साध्वी आर्यशीला ललना, राक्षस के हाथों छिन जाती है, तब रो पड़ता है देश का गौरव, देश की धरती, देश की मान मर्यादा, देश की सभ्यता और संस्कृति तथा धैर्य छोड़कर रो पड़ता है हमारा भगवान्।

यहां पुरुषों की प्राणमयी परम्परा का पोषण भी किया है पुरुषोत्तम ने। देखिये न, विश्व-विश्रुत लोकनायक श्रीराम एक चक्रवर्ती के प्राणोपम पुत्र थे, उनके अंग-प्रत्यंग से सौन्दर्य की किरणें छिटकती थीं। यौवन के स्वर्णिम द्वार पर खड़े थे वे। लाख-लाख ललनाएं निछावर जातीं उन पर। अनेक नारी-रत्नों के हृदयहार हो जाते वे, पिता की परम्परा उनके पक्ष में थी ही। क्या जरूरत थी रोने धोने की, और क्या जरूरत थी अपने अमूल्य आह्लाद को एक नारी के अञ्चल में बांध देने की। पर नहीं, उन्होंने ऐसा नहीं किया। उनकी प्राणसंगिनी पिशाच के हाथों में पड़ गयी तो 'पाणिग्रहण' को प्राणवान् बनाते हुए, पातीति पतिः—रक्षण-क्षम अर्थ को सार्थक करते हुए श्रीराम उबल पड़े, इस दुष्काण्ड पर उनका हृत्पिण्ड काँप उठा, आँसू बरस पड़े, नहीं वे आँसू नहीं थे। प्राण वल्लभ की रोष-आक्रोश से अग्नि बरसाती हुई आँखों से टपकते

हुए अश्रु [illegible] से उड़ते हुए वे अग्निस्फुलिंग थे जिनमें रघुवंश की दिग्-दिगन्तव्यापी प्रतिष्ठा को ठेस पहुंचाने वाले की लंका में आग लगाने का संकल्प जल रहा था।

राम के आँसुओं में पतिव्रता नारी का मूल्यांकन करने के लिये राम के अथाह हृदय-सागर से अमूल्य मोतियों की लड़ी बिखरी थी। ये किसी कामी के आँसू नहीं थे, अरे, मिथिला की जिस लाड़ली ने—कौसल्या के नेत्र की पुतली ने अपने प्रियतम के चरणों का अनुगमन करने में ऊंचे-ऊंचे पर्वतों को अयोध्या के महल समझा, कर्कश-कुश-शय्या को मृदुल शयन समझा, वन प्रान्तों में उड़ी धूल को पुष्पराग माना, और जिसने कन्दमूल-फलों पर स्वर्गीय सुधा को निछावर कर दिया ऐसी पतिपरायणा पत्नी के बिछुड़ने पर पति के प्राण तड़प न उठें तो वह पति होने योग्य नहीं।

वसिष्ठ, विश्वामित्र, वामदेव, आदि ऋषि प्रवरों की सन्निधि में वेदमन्त्रों की पावन ध्वनि में आहुतियों से ज्वलंत अग्नि ज्वालाओं की प्रकाशमयी साक्षी में रघुवीर ने जिस जनकतनया का हाथ अपने हाथ में लिया था, उसके अपहरण पर वे चुप रह जाते, उनकी आँखें सूखी रह जातीं तो राम का रामत्व समाप्त हो जाता, वे मर्यादा पुरुषोत्तम न कहलाते और न एक महर्षि की वाणी में राम के गौरव का गान होता और न होता तुलसी का रामचरितमानस।

हमारे राष्ट्रपुरुष का मर्मस्थल है नारी, राष्ट्रीय प्रतिष्ठा

का मस्तक है महिला । जब-जब मनुष्य मानव के मर्म पर निर्मम प्रहार हुआ, जब उसके सम्मान के मूर्द्धापर अपमान का पाद प्रहार हुआ तब-तब उसका सोया हुआ, पराक्रम का पञ्चानन उठा और उसने शत्रु को धराशायी किया, नारी के सम्मान में, स्नेह में, परमात्मा रोया, सोने की लंका में आग लगा दी, लंका का दानव राम की क्रोधाग्नि में जलकर राख हो गया, इससे बढ़कर नारी का गौरव और क्या होगा ?

●

पक्षिराज जटायु

भारतीय वाङ्मय में वाल्मीकीय रामायण, प्रकाशवंश का दर्पण एवं आर्य-ओज का प्रखर स्वर है। उसमें साधु पुरुषों के लक्षण क्रियात्मक हैं, कार्यरूप में परिणत हुए हैं। सुष्ठु लक्षणों का उच्चारण अतिस्वल्प है, उनका समाचरण अति प्रमुख है। वहां दैन्योक्ति, हीन भाव तथा कार्पण्य-करुणा अज्ञात है। महर्षि की तपःपूत वाणी में साधुत्व की धवलता, जाति वर्ण वैभव एवं देश की परिधि से सर्वथा मुक्त है, वह उज्ज्वल हुई है केवल उज्ज्वल कार्यकलापों से।

हम एक ऐसे ही पात्र की ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट करेंगे। मर्यादा के मानदण्ड, कोदण्ड दीक्षागुरु श्री रामचन्द्र जी के अनेक अनुगामी हैं, और वे सब साधु हैं, साधु-धुरीण हैं पर उनमें पक्षिराज जटायु का ज्वलन्त चरित्र सबसे अधिक चकित बनाता है। उसका शौर्य, धैर्य, एवं साहस अतुल है। आदि कवि की अद्भुत प्रतिभा के प्रकाश में वह समधिक द्युतिमान् बन गया है।

वह महाराजाधिराज दशरथ का परम मित्र है। इस मित्रता का आधार कोरी भावुकता नहीं, उसकी श्लाघनीय

अभयदायिनी वह प्राणशक्ति, वह सामर्थ्य है जिसके कायल थे—ऋणी थे चक्रवर्ती सम्राट्। जिस प्रकार राम की याचना के हेतु आये हुए कौशिक विश्वामित्र से दशरथ ने कहा था—

—षष्टिवर्ष सहस्राणि जातस्य मम कौशिक !

'कुशिक नन्दन ! मैंने साठ सहस्र वर्ष की अवस्था में राम को पाया है'।

ठीक यही दशा जटायु की है। उसके वृद्ध लोचनों के सामने लोकाभिराम रघुनन्दन, साठ हजार वर्ष की अवस्था में ही सामने आये थे। रावण के प्रति ठीक ऐसे ही शब्दों का प्रयोग किया है। जटायु ने कहा था—

षष्टिवर्ष सहस्राणि जातस्य मम रावण ॥
पितृपैतामहं राज्यं यथा वदनुतिष्ठतः ॥ वा. रा. ३-१५-२० ॥

"अरे रावण ! मैं साठ हजार वर्ष का हो गया। मैंने पितृपैतामह राज्य का विधि पूर्वक पालन किया है।" इस प्रकार दोनों ही दीर्घजीवी समवयस्क सखा थे। दोनों ही शासक थे। दोनों ने प्रजा का पालन दीर्घकाल तक किया था, और दोनों को ईश्वर के दर्शनों का सौभाग्य समान वय में हुआ था। इसके साथ यह भी नहीं भूलना चाहिए कि महाराज दशरथ सूर्यवंशी थे तो जटायु का सम्बन्ध भी प्रकाश केन्द्र सूर्य से है।

वनस्थली में श्रीराघवेन्द्र से अपने कुल का परिचय देते हुए उसने कहा था—विनता के दो पुत्र हुए अरुण एवं गरुड़ ! अरुण बड़ा भाई था और गरुड़ छोटा। अरुण सूर्य का सारथि बना, सूर्य का वहन किया और गरुड़ बने साक्षात् नारायण के

वाहन। जटायु ने अपने परिचय में इसका उल्लेख किया और कहा—"मैं अरुण का, सूर्य-सारथि का पुत्र हूँ। मेरा बड़ा भाई सम्पाति है जो सूर्य तक उड़ान भरने में समर्थ है।" जटायु के दिये हुए इस परिचय से स्पष्ट है कि जटायु भी प्रकाश कुल का प्राणी है, सूर्यवंशी सम्राट् के योग्य सखा है। राजा दशरथ ने अपने प्राणों को राम पर निछावर किया तो जटायु ने सीता की रक्षा में प्राण छोड़े।

उसका प्रथम दर्शन में प्रथम सम्भाषण, उसके उज्ज्वल एवं उदात्त हृदय का, उसके प्रेमपूरित प्राणों का मधुर गुंजन है। पञ्चवटी के निकट निर्जन कानन में श्रीराम ने जटायु से पूछा—"आप कौन हैं ?" इस प्रश्न के उत्तर में जटायु की वाणी को व्यक्त करते हुए आदि कवि कहते हैं—

ततो मधुरया वाचा, सौम्यया प्रीणयन्निव।
उवाच वत्स ! मां विद्धि वयस्यं पितुरात्मनः ॥ ३-१४-३ ॥

"तदनन्तर मधुर तथा सौम्यवाणी से आप्यायित करता हुआ बोला—"वत्स ! मुझे अपने पिता का सखा समझो"। इस श्लोक में अन्तर्द्रष्टा प्राचेतस के शब्द मननीय हैं। पहला शब्द है—ततः, अर्थ है 'तत्पश्चात्' तदनन्तर। इस शब्द की ध्वनि यह है कि यद्यपि सम्मुख उपस्थित राम भद्र, भयावह आयुधों से सन्नद्ध हैं और दोनों भ्राताओं का उसकी ओर बढ़ने में भाव भी भद्र नहीं है—'मेनाते राक्षसं घोरम्' उस महाकाय भीमरूप गृध्रराज को बन्धुद्वय ने घोर राक्षस समझा। यह भावना जिस दृष्टि में होगी वहां सौम्य भाव कहाँ ? और कौन उद्विग्न न

होगा उस दृष्टि से ? वह स्वयं पूछ सकता था कि पूछने वाले आप कौन हैं ? पर नहीं, आश्चर्यजनक है गृध्रराज का हृदय गाम्भीर्य। उस अवस्था में भी बिना विलम्ब के, बिना पूर्व परिचय के प्रथम दृष्टिपात में ही अगाध वात्सल्य उड़ेल दिया 'वत्स' कहकर। सम्पाति की दृष्टि ने पहचाना था, सागर पार अशोक वाटिका में बैठी वैदेही को; तो लघु भ्राता जटायु ने उसके पूर्व ही लख लिया अलख को, तत्क्षण पहचान लिया था प्रभु श्रीराम को। पर परम विचित्र बात है, प्रभु ने नहीं पहचाना पिता के प्यारे सखा को ! सचमुच प्रभु ने नहीं पहचाना। कैसे पहचानते ? ललित लीला का खिलाड़ी कैसे चूक करता अपने अभिनय में! भला कौन मानव ऐसा होगा जो भयभीत न हो उठेगा इस दृश्य को देखकर ?

भयावह कान्तार, पर्वताकार पक्षी, लौह दण्ड-सन्निभ प्रचण्ड चञ्चु कनपटियों पर बिखरे रूखे-रूखे विरल बाल, तृणा-वृत कूप-सी वरुनियों से ढँकी पीली-पीली मशाल-जैसी जलती आँखें, वज्रपञ्जर-से पंजे, डर गये राम, उसे राक्षस समझ कर तान ली कमान। कितना मोहक है दाशरथि श्रीराम का बाल सुलभ मुग्ध भाव ! किन्तु पक्षिपुङ्गव जटायु तो अभिनीत कर रहा था साधु की भूमिका। उसे कोई राक्षस समझो, क्रूर नेत्रों से देखो, कठोर वाणी का लक्ष्य बनाओ वह कैसे विचलित होता सन्त के सबल पथ से ?—

—न्याय्यात् पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः।

वह आमिषभोजी है, सात्विक आहार का सेवी नहीं, घोर

हिंस्र बनैले प्रवादों का साक्षी है, सखांगी नहीं, निकृष्ट तिर्यक योनि का प्रतीक है, उच्चकुल का नहीं; फिर भी उसका विवेक, उसका धैर्य, उसकी सहनशीलता एवं सुलझी निगाहें, साधु पुरुषों की धरोहर हैं। खगराज की संभाषण मधुरिमा ने मुग्ध कर दिया युगल बन्धु को।

जटायु जीवन के तीन मर्मस्थल हैं। एक वह, जब सर्व-प्रथम भेंट होती है श्री रामभद्र से, जिसकी चर्चा हमने पूर्व में की है। दूसरा स्थल वह है जब अपहृत वैदेही के विह्वल विलाप पर हुंकार कर उठा था, उसका मर्माहत अन्तराल। उस समय पक्षिराज का प्रज्वलित पराक्रम, दुर्दान्त दशकन्धर पर ऐसे फट पड़ा था जैसे काली-काली घटाओं की घाटियों पर विद्युत प्रहार तड़प उठता है। तीसरा स्थल वह है, जब प्राण प्रयाण के क्षणों में प्राणों के प्राण श्रीराम सामने आते हैं। प्रथम मर्मस्थल में साधु की मधुस्फीता वाणी का परिचय मिलता है। द्वितीय स्थल पर साधु के कर्म का मर्म, कर्तव्य-कीर्ति का उजाला है और अन्तिम स्थल पर है साकार साधुता के हृदय का, मधुर मानस का स्वरूप। इस प्रकार तन-मन-वचन तीनों का निदर्शन है जटायु के जीवन में।

अन्तिम मर्मस्थल की एक स्वल्प-सी चर्चा करेंगे। दुर्धर्ष दशानन के साथ हुए संघर्ष में धराशायी गृध्रराज जीवन के अन्तिम क्षणों में जीवन की ज्योति जगाये था—जीवनान्तक झंझावात के झोंके में बुझने से बचाये था, चिन्तन में चमकते हुए चिन्मय चरणाञ्चलों की ओट दे-देकर। तब तक आ गये,

रक्ताक्त लोचन श्रीराम अपनी प्राणवल्लरी का वन वीथिकाओं में विलोडन करते हुए। उनके उद्भ्रान्त, अरुणाभ, जल भरे विकल लोचनों ने देखा—

दूर-दूर तक चूर हुई चट्टानें, रौंदे हुए वृक्ष, यत्र तत्र—शोणितरक्ता वसुन्धरा, टूटा हुआ सांग्रामिक रथ, मृत्यु की गोद में सोये घोड़े और सारथि, खण्डित किरीट, भग्न हुआ शत शलाका सुशोभित राज छत्र, जैसे लंका राज्य का भविष्य, दलित हुआ बिखरा पड़ा हो। आगे श्रीराम ने देखा, रुधिर का झरना बहाते हुए पर्वतकूटाभ जटायु को—

> ततः पर्वतकूटाभं महाभागं द्विजोत्तमम्।
> ददर्श पतितं भूमौ क्षतजार्द्रं जटायुषम्॥—३।६७॥

श्रीराम के आदि गुण गायक महर्षि वाल्मीकि ने जो दृष्टि डाली है जटायु के जीवन पर, वह रामविषयक समग्र वाङ्मय में दुर्लभ है। ज्योतिर्मय जीवन के जागरूक जीव जटायु को, हीनता-द्योतक किसी भी विशेषण से, किसी भी सम्बोधन से सम्बद्ध नहीं किया। उनकी दृष्टि में वह 'अधम खग' नहीं 'द्विजोत्तम' है। द्विजों में, पक्षियों में आज तक जितने पक्षधारी हुए हैं, हैं, और होंगे, उन सब में उत्तम है, श्रेष्ठ है, वन्दनीय है। श्लेष-शैली में 'द्विजोत्तम' शब्द से, सन्ध्या वन्दन करने वाले, हवन करने वाले कुलीन द्विजों में भी उत्तम है। जटायु का दूसरा विशेषण दिया 'महाभागम्' जटायु पापी पक्षी नहीं, महाभाग है—पुण्य श्लोक है। किन्तु हमारे चरित्रनायक तो ऐसे जगन्मोहन भाव में विभोर थे कि देखकर ऋषि मुनि

भी दंग रह गये । श्रीराम धनुर्बाण [illegible] क्रुद्ध नेत्रों से जटायु को देखकर उसकी ओर दौड़ते हैं उसे राक्षग समझ कर । धरती का हृदय काँप गया, देव दिङ्मूढ थे । बलिहार जटायु । तुम उस हृदय-दारक परीक्षा के क्षणों में भी खरे निकले । मुख से सफेन शोणित वमन करता हुआ मर्मविद्ध वह क्षीण वाणी में बोला—

> **यामोषधीमिवायुष्मन् अन्वेषसि महावने ।**
> **सा देवी मम च प्राणा रावणेनोभयं हृतम् ।।—३-६६-१५ ।।**

"आयुष्मन् ! महावन में जिसे तुम अपनी संजीवनी ओषधी की तरह खोज रहे हो उस देवी और मेरे प्राण दोनों को रावण ने हर लिया है ।" एक ही वाक्य में सब कुछ कह दिया और 'आयुष्मान्' शब्द से अपने वात्सल्य को अखण्ड रक्खा । करुणा सागर उबल पड़ा, धनुष फेंक कर श्रीराम दौड़ पड़े और विशाल वाहुओं में आबद्ध कर लिया, रुधिर से लथपथ गीध को । दोनों नयनों से नीर धारा बह चली, अभिषिक्त कर दिया जटायु को । जटायु और जटाधारी राम एक दूसरे से लिपट गये । अब हम इन्हें कैसे अलग करें, अलग होने पर भी तो जटायु श्रीराम से अलग नहीं हुआ । श्रीराम ने लक्ष्मण से कहा—

> **सर्वत्र खलु दृश्यन्ते, साधवो धर्मचारिणः ।**
> **शूरः शरण्याः सौमित्रे ! तिर्यग् योनिगतेष्वपि ।।—३-६८-२४ ।।**

"सौमित्रे ! शूर, शरण्य एवं धर्माचरण करने वाले साधु सर्वत्र दृष्टिगत होते हैं—तिर्यक् योनियों भी देखे जाते हैं" ।

भगवान राम ने जटायु को वह [illegible] प्रदान किया, जो अपने पिता दशरथ को भी न दे पाये थे। उसका दाह संस्कार किया और उसके वियोग से व्यथित होकर कहा—

> सीता हरणजं दुःखं, न मे सौम्य ! तथागतम् ।
> यथा विनाशो गृध्रस्य, मत्कृते च परन्तप ! ।।
> राजा दशरथः श्रीमान्, यथा मम महायशाः ।
> पूजनीयश्च मान्यश्च तथाऽयं पतगेश्वरः ।।

'हे सौम्य ! मुझे सीता के हरण का उतना दुःख नहीं हुआ जितना दुःख सीता के लिये प्राणार्पण करने वाले गीध के विनाश से हुआ है'।

"मेरे लिये जिस प्रकार महायशस्वी मेरे पिता महाराज दशरथ पूजनीय और मान्य हैं उसी प्रकार मेरे लिये यह पक्षिराज है"।

इतना कहते-कहते ईश्वर का ऐश्वर्य सहसा छिटक पड़ा और परमात्मा का सहज प्रभाव उनकी वाणी से गूँज उठा—

> या गतिर्यज्ञशीलानां आहिताग्नेश्च या गतिः ।
> अपरावर्तिनां या च, या च भूमिप्रदायिनाम् ।।
> मया त्वं समनुज्ञातो गच्छ लोकान् अनुत्तमान् ।
> गृध्रराज ! महासत्व ! संस्कृतश्च मया व्रज ।।

"जो गति यज्ञशीलों को मिलती है, जीवन भर अग्नि-होत्री रहने पर जो गति मिलती है, संसार में पुनः जन्म न लेने वालों को जिस दिव्यगति की अनुभूति होती है। भूदान करने वालों को जो गति प्राप्त होती है, हे महासत्व गृध्रराज ! मेरे

द्वारा संस्कृत होकर मेरी आज्ञा से सर्वश्रेष्ठ लोकों को प्राप्त करो"।

प्रश्न हो सकता है, कि वह दिव्यगति कौन थी जिसे जटायु ने प्राप्त किया ? तो इसका उत्तर गोस्वामी तुलसीदास जी ने दिया। श्रीराम ने प्रहार-जर्जर, रुधिर-स्नात एवं धूलि धूसरित जटायु को जब अपनी बाहों में भरकर, गोद में समेट कर अपनी छाती से सटा लिया उस समय उसे क्या नहीं मिल गया ? भ्रम वश भरत से संघर्ष करने के लिये उद्यत गुह निषाद ने यह कामना की थी कि भरत के साथ युद्ध करने में मुझे क्या-क्या मिलेगा। उसने कहा था—

समर मरनु पुनि सुरसरि तीरा। राम काजु छन भंगु सरीरा॥
भरत भाइ नृप मैं जन नीचू। बड़े भाग असि पाइय मीचू॥

समराङ्गण में मृत्यु का वरण, उस पर भी गंगा का किनारा, मृत्यु का उद्देश्य भी महान् है कि वह रामकाज में होगी। मृत्यु भी किसी सामान्य व्यक्ति या क्षुद्र व्यक्ति द्वारा नहीं, श्रीराम के भ्राता और सम्राट् भरत के द्वारा होगी, मुझ जैसे क्षुद्र व्यक्ति के लिये इन चार चीजों का मिलना परम सौभाग्य की बात होगी। पर उसे यह कुछ नहीं मिला पर गीध को वह सब कुछ मिल गया। युद्ध भूमि में मृत्यु हुई, गोदावरी के तट पर हुई या जिन चरणों से गंगा निकली हैं, उन चरणों में समर्पित होकर, रामकाज के लिये मृत्यु हुई, केवल रामकाज ही नहीं, दशरथ की मित्रता का निर्वाह, विश्व की परम पावन पतिव्रता नारी की रक्षा में अद्भुत पराक्रम, और संघर्ष ऐसे

व्यक्ति से हुआ जो त्रैलोक्य विजेता था, फलतः वह दुनियाँ की

आँखों के सामने ही दिव्यरूप हो गया—

गीध देह तजि धरि हरि रूपा। भूषन बहु पट पीत अनूपा।।
स्यामगात बिसाल भुज चारी। अस्तुति करत नयन भरि बारी।।

एक गीध रूप को छोड़कर भगवान का रूप पा लिया, सारूप्य मुक्ति प्राप्त हो गयी। प्रभु के दिव्य धाम को पा लिया, सालोक्य मुक्ति मिल गयी, सदा-सदा प्रभु के समीप रहेगा, सामीप्य मुक्ति मिल गयी। सबसे अलग होकर, अब राम का हो गया, राममय हो गया, भला सायुज्य मुक्ति पाने में और शेष ही क्या रह जाता है ? मृत्यु में अमरता का सन्देश देने वाला, संघर्ष में शान्ति का सन्देश देने वाला पक्षहीन होकर श्रीराम को अपना पक्षधर बनाने वाला, गिर के भी अनन्त गगन में उड़ने वाला जटायु, गोस्वामी जी का परम वन्दनीय एवं अभिनन्दनीय बन जाता है। गोस्वामी जी निश्चयात्मक दृढ़ स्वरों में कहते हैं—

दो०—मुए, मरत, मरिहैं सकल, घरी पहर के बीच।
लही न काहू आजु लौं गीधराज की मीच।।

•

मित्र-धर्म

मित्रो ! मित्रता है—साँवले अञ्चल में विश्वास का दीप जलाये आँख की पुतली, और मित्र हैं—झरोखे से झाँकने वाली आँखों की पुतली को गुदगुदी गोद में लेकर रखने वाली दो पलकें।

अथवा मित्रता एक ऐसा दर्पण है, जिसमें दो मित्रों के दुःख-सुख बिना बोले प्रतिपल प्रतिबिम्बित हो उठते हैं।

आप कहेंगे, कैसे ? तो सुनिये—रामचरित मानस में प्रीति की रीति में बँधे दो मित्रों का पावन प्रसंग।

दो मित्र मिलते हैं, तो पहले मिलते हैं दोनों के नेत्र, फिर हाथ से हाथ मिलता है—कंठ से कंठ और अन्त में दोनों के दो हृदय, दोनों की अन्तरात्माएँ, दोनों का जीवन, दोनों की वाणी, जैसे एकाकार होकर दो से एक हो जाते हैं, तब प्रकाश की किरणें फूट पड़ती हैं।

जब श्री राम और सुग्रीव मित्र हुए थे तब यही तो हुआ था, दोनों का जीवन जैसे एकाकार हो उठा था। सुग्रीव थे राज्य से अलग, श्री राम भी अलग थे अपने राज्य से। सुग्रीव के बन्धु-बान्धव छूटे, श्री राम के भी छूटे, सुग्रीव प्रियाविहीन, श्री

राम प्रियाविरही । सुग्रीव था सूर्यपुत्र, राम थे सूर्यवंशी । इन दोनों को मिलाने वाले पवनकुमार, जिन्होंने बचपन में प्रकाश के केन्द्र सूर्य को उदरस्थ कर लिया था । अन्धकार के विरुद्ध प्रकाश का सम्मेलन था यह । फलतः दोनों के मध्य में अन्धकार-दाही अग्नि जल उठा—

दो०—तब हनुमन्त उभय दिशि की सब कथा सुनाइ ।
पावक साखी देइ करि, जोरी प्रीति दृढ़ाइ ।

श्री पवनकुमार ने अग्नि को प्रज्वलित किया । बात बहुत ठीक है । अग्नि को प्रज्वलित पवनकुमार के अतिरिक्त और कौन कर सकता है ? हवा के बिना आग कैसे उठती ? तो अग्नि-ज्वाला को जला कर मारुति ने यह सिद्ध किया कि बरसने वाले मेघ जब आपस में गले लगते हैं तो उनके मध्य में बिजली चमक उठती है—प्रकाश फूट पड़ता है । पानी की तेज धार जब बाँध के बाहुबन्धनों में आबद्ध होती है तो प्रकाश के भण्डार भर जाते हैं । श्री राम सुग्रीव की पवित्र मित्रता से भी प्रकाश-पुञ्ज ने जन्म लिया, जिसने ध्वस्त किया अन्धकार को, प्रकाशित किया स्नेह महिमा को ।

प्रकाश के आमने-सामने रहते हैं दो हृदय । वे दोनों एक प्रकाश से प्रकाशित होते हैं—एक संकल्प से प्रेरित होते हैं तथा एक दूसरे को समीप से देखने का अवसर पाते हैं । साथ ही दो हृदय अग्नि में तपते हैं और अपनी निर्दोषता को प्रमाणित कर नये जीवन की अग्नि-परीक्षा का श्रीगणेश करते हैं ।

मित्रता की साक्षी माँगती है—अग्नि-साक्षी। इसका कारण है।

जीवन में जन-जन बँधा है, प्रत्येक राष्ट्र बँधा है, सारा विश्व ही बन्धन में है। वह बन्धन है शब्दों के रेशमी लच्छों का, जो एक साथ मृदुल और कठोर दोनों है। इस बन्धन के कारण ही लोग परस्पर 'बन्धु' कहलाते हैं।

मानव के मन में जो कुछ रस-भाव हैं, बुद्धि में जो कुछ विचार-रत्न हैं, उन्हें प्रकाश में लाते हैं शब्द, प्रकट करती है वाणी ! कितनी सबला है—वाणी ! शास्त्र का कथन है—'उस वाणी का देवता' अग्नि है; ऐसी स्थिति में--

परस्पर वचन-बद्ध होने वाले मित्रों के मध्य में अग्नि देव की साक्षी क्यों न दी जाती ?

एक तथ्य और है। विश्व-रचना की मूल पद्धति में कहा गया है—'अग्नेरापः' अग्नि से जल की उत्पत्ति हुई है, इन शास्त्र-संकेतों के बल पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं–कि अग्नि में तीन तत्त्वों की त्रिवेणी है–रस का झरना है, प्रकाश का पुञ्ज है, साथ ही है भस्मसात् करने की प्रचण्ड शक्ति।

मित्रों के मध्य में तीनों भाव समन्वित होते हैं। वे परस्पर होते हैं रस-निमग्न, उनके कार्य-पथ में होता है प्रकाश और बाधक तत्त्वों के निराकरण में होती है प्रचण्ड शक्ति। इसके लिए उन्हें अग्नि-परीक्षा से गुजरना पड़ता है।

अग्नि की साक्षी, पूर्वोक्त तत्त्वों की ओर मौन-संकेत

करती है, श्री राम उन्हें वाणी से स्पष्ट करते हैं। हम यह देखते हैं, प्रकृति ने प्रत्येक व्यक्ति को, उसकी आकृति को, उसकी भाव-धारा को सर्वथा भिन्न बनाया है। उस भिन्नता में अभिन्न-अनुभूतियों की अधारभूमि बनती है प्रीति की रीति। जैसे वृक्ष की सघनता में—परिलक्षित भिन्नता को अभिन्नता की समान रसाकर्षण—शक्ति—प्रदान, वृक्ष को मूल करती है। यदि दो हृदयों की समानानुभूति में भेद है तो प्रीति में दोष है, मन में मैल है।

श्री राम समझाते हैं—

चौ०—जे न मित्र दुख होहिं दुखारी।
तिन्हहि बिलोकत पातक भारी।।

प्रीति का एक और विलक्षण कार्य है। वह दोनों मित्रों के दो हृदयों पर एक ऐसा दर्पण जड़ देती है कि एक हृदय पर आया दुःख, दूसरे हृदय पर शतगुणित होकर प्रतिफलित होने लगता है—

चौ०—निज दुख गिरि सम रज करि जाना।
मित्र के दुख रज मेरु समाना।।

इस कथन के द्वारा सुजान श्री राम ने रसरीति की व्याख्या की। इसके पश्चात् उन्होंने प्रकाशतत्त्व विवेक-वैभव का वर्णन किया—

चौ०—कुपथ निवारि सुपंथ चलावा।
गुन प्रकटै अवगुनहि दुरावा।।
देत लेत मन संक न धरहीं।
बल अनुमान सदा हित करहीं।।

अन्त में धनुर्धर श्री राम प्रचण्ड शक्ति की ओर संकेत करते हैं, उसके उपयोग का अवसर बताते हैं––

चौ०—विपति काल कर सतगुन नेहा।
श्रुति कह सन्त मित्र गुन एहा॥

मैत्री में इन तीन तत्त्वों का अनुगुण समन्वय त्रिवेणी-सा पावन है। चाणक्य कहते हैं 'तन्मित्रं यत्र विश्वासः'। जहाँ प्रकाश होता है वहाँ विवेक होता है––

जासु ज्ञान-रवि भव निसि नासा।

इन दो के संगम से उत्पन्न होती है शक्ति। जहाँ शक्ति होती है, वहाँ बल रहता है, तो विश्वास, विवेक और बल, ये तीन मित्रता की कल्पलता के दुर्लभ फल हैं।

समन्वय के देवता शंकर

जिनके माथे पर गंगा है और नेत्र में है आग, आग और पानी दोनों एक साथ। माथे पर है पीयूष पूर्ण चन्द्रमा, कण्ठ में है विष; अमृत और विष दोनों एक साथ। उनकी पत्नी का वाहन है सिंह, स्वयं का वाहन है वृषभ, एक है माँसाहारी दूसरा है शाकाहारी या एक है हिंसक, दूसरा है अहिंसक, क्रूर और सौम्य-परस्पर विरोधी एक साथ। उनके पुत्र गजानन का वाहन है मूषक, शिव के अंगों में लिपटे हैं सर्प, मूषक है भक्ष्य सर्प है भक्षक पर दोनों का सहवास निर्विरोध। कार्त्तिकेय कुमार का वाहन है मयूर, वह भक्षक है सर्पों का, फिर भी सबकी स्नेह पूर्ण सहस्थिति है।

परस्पर विरुद्ध भाव वाले कलह करने वाले भी जिस के सम्पर्क में सौम्यभाव से प्रेम पूर्वक निवास करते हैं ऐसे हैं विस्मय जनक भुजंग-भूषण भवानी पति भोलेनाथ। ऐसा कौन सा चमत्कार है शिव में? समन्वय का कौन सा सूत्र है उनके पास? सचमुच, उनके पास एक सूत्र है, महत्वपूर्ण सूत्र। उनका वाहन वृषभ है, शास्त्रों में वृषभ को धर्म का रूप माना है, इसका आशय है कि शंकर सदा धर्मारूढ़ रहते हैं, उनका आधार

धर्म है, वे जहाँ जाते हैं, उन्हें धर्म ले जाता है, उनका नेता धर्म है हमारे यहां अनेक देवता हैं पर ऐसा देवता नहीं मिलेगा, क्योंकि और हैं देव यह हैं महादेव। सबका निर्विरोध आराध्य। जिसके चरणों में देवता झुकते हैं और दैत्य भी।

बहुत से लोग कहा करते हैं, धर्म के कारण संसार में बहुत संघर्ष हुए हैं, खून की नदियाँ बही हैं। भारतवर्ष में दक्षिण की ओर शैव-वैष्णवों का संघर्ष प्रसिद्ध है, यदि शंकर धर्म रूढ़ हैं तो उनके अनुयायियों ने उपद्रव क्यों किये ? सचमुच शैव-वैष्णवों का संघर्ष कभी हो नहीं सकता। न कभी झगड़ा हुआ।

क्योंकि आशुतोष शंकर विष्णु की पूजा करते हैं, नारायण के चरणों से निकली गंगा को-विष्णु के चरणोदक को अपने माथे पर रखते हैं और नारायण भगवान् शिव का पूजन करते हैं, भगवान नारायण का कथन है—

त्रयाणामेक भावानां यो न पश्यति वै भिदाम्।
सर्वभूतात्मनां ब्रह्मन् ! स शान्ति मधिगच्छति।।

ब्रह्मा, शंकर और मैं (विष्णु) तीनों एक हैं, सबकी आत्मा हैं जो आराधक, हम तीनों में भेद भाव नहीं रखता वह सच्ची शान्ति प्राप्त करता है।

भागवतकार कृष्णद्वैपायन व्यास कहते हैं कि शंकर से बढ़कर कोई वैष्णव नहीं है—

वैष्णवानां यथा शम्भुः। (भाग० १२/१३/१६)

पद्म पुराण में कथा आती है कि जब भगवान श्रीराम ने समुद्र पर पुल बाँधा तो भगवान् शिव की स्थापना की और उनका नाम करण किया रामेश्वर। इस पर ऋषियों ने प्रश्न किया—'रामेश्वर शब्द में कौन सा समास है ?' प्रभु ने कहा—षष्ठीतत्पुरुष। षष्ठीतत्पुरुष समास के अनुसार विग्रह हुआ रामस्य ईश्वरः, रामेश्वरः, जो राम का स्वामी है, राम जिसका सेवक है वह है रामेश्वर। इस व्युत्पत्ति को सुनकर भगवान शंकर स्वयं प्रकट हो गये और बोले—रामेश्वर नाम तो ठीक है, पर षष्ठी तत्पुरुष समास ठीक नहीं। ऋषियों ने पूछा—फिर कौन सा समास ठीक है ? चन्द्रमौलि बोले—इसमें बहुव्रीहि समास के अनुसार विग्रह हुआ 'रामः ईश्वरो यस्य स रामेश्वरः' राम हैं ईश्वर जिसके वह हुआ रामेश्वर अर्थात् राम स्वामी और शंकर सेवक। श्रीराम का आग्रह था 'तत्पुरुष' समास का और शिव का आग्रह था 'बहुव्रीहि' का। श्रीराम कहते थे आप मेरे स्वामी, और शिव कहते थे—आप मेरे स्वामी, अन्त में ब्रह्मादि देवों ने अपनी ओर से निर्णायक सुझाव दिया कि रामेश्वर शब्द में न षष्ठी तत्पुरुष 'माना जाय, न बहुव्रीहि' इस में समास है 'कर्मधारय'। इस समास के अनुसार विग्रह हुआ रामश्चासौ ईश्वरश्चेति रामेश्वरः—जो राम वही ईश्वर, जो ईश्वर वही राम—जो राम वह शिव और जो शिव वह राम। वहाँ एक श्लोक, इस आशय का आया है—

रामस्तत्पुरुषं वक्ति, बहुव्रीहिं महेश्वरः।
प्रोचुः प्राञ्जलयः सर्वे ब्रह्माद्याः कर्मधारयम्॥

गोस्वामी तुलसीदास जी ने अपने 'रामचरित मानस' में इस तथ्य को व्यक्त किया है। उन्होंने कहा—

> सेवक स्वामि सखा सिय पी के।
> हित निरुपधि सब विधि तुलसी के॥

इस निरूपण से श्रीराम और शिव में अभिन्नता स्थापित की, साथ ही सेतुबन्ध पर रामेश्वर की स्थापना के द्वारा उनके अनुयायियों में भी एकता की स्थापना की। इससे उत्तर भारत एवं दक्षिण भारत के मध्य में एक स्नेह सूत्र जोड़ दिया।

रामेश्वर की स्थापना पर प्रभु ने एक महत्वपूर्ण बात कही—

> जे रामेश्वर दरसन करिहहिं। ते तनु तजि मम लोक सिधरिहहिं॥
> जे गंगाजल आनि चढ़ाइहि। सो सायुज्य मुक्ति नर पाइहि॥

कितनी प्रेरणाप्रद बात कह दी! जो गंगा जल लाकर चढ़ायेंगे और जो रामेश्वर दर्शन करेंगे उन्हें दिव्य गति प्राप्त होगी। प्रभु के इस कथन में दो ध्वनियाँ हैं—'जो गंगाजल आनि चढ़ाइहि' इस कथन में ध्वनि यह है कि दक्षिण भारत के लोग उत्तर भारत में जाकर गंगाजल लायें, इससे उन्हें यह बोध होगा कि हमारे आराध्य की पूजन-सामग्री उत्तर भारत में है, उत्तर भारत की अर्चना के विना हमारा ईश्वर प्रसन्न नहीं हो सकता, अत: वे उत्तर भारत की यात्रा अत्यन्त पवित्र भावना से करें। दूसरा श्रीराम का वाक्य है 'जे रामेश्वर दरसन करिअहिं' जो लोग आकर दर्शन करेंगे अर्थात् उत्तर भारत के लोग दक्षिण की यात्रा करें, और वे विचार करें कि हमारा आराध्य दक्षिण में

है, हमें वहाँ की यात्रा करनी चाहिये। तो प्रभु श्रीराम ने जो सागर पर सेतु बाँधा उसके कारण दोनों तटों के लोग एक दूसरे के समीप आये।

साथ ही यह तथ्य भी स्पष्ट हो जाता है कि शैव-वैष्णवों में कोई भी सैद्धान्तिक मतभेद नहीं, कलह कैसी ?

प्रश्न होता है कि दक्षिण में शैव-वैष्णवों के झगड़े क्यों हुए ? इस प्रश्न के उत्तर में मेरा नम्र निवेदन है कि वह झगड़ा शैव-वैष्णवों का नहीं था, वह धर्म के कारण नहीं था। शैव तथा-कथित शैव-वैष्णवों के झगड़े के इतिहास को देखिये। उस समय विद्वानों में शास्त्रार्थ होते थे. शास्त्रार्थ में जो विजयी होता था, उसका राजा सम्मान करता था और अपनी सभा में पण्डितों के अध्यक्ष पद पर बिठाता था। आचार्य प्रवर श्री रामानुजाचार्य के जीवन में भी ऐसी घटना घटी थी। होता यह था कि जो पदच्युत कर दिया जाता था वह उसके विरुद्ध विद्रोह का संघटन करता था। यह संघर्ष था कुर्सी का, पद का अतः उनके इस संघर्ष को धर्म का संघर्ष कहना या उसे शैव-वैष्णवों की लड़ाई कहना, धर्म के गौरवशाली ललाट पर कलंक का टीका लगाना है।

रावण शिव भक्त था और राम कौन थे ? वह भी तो शैव थे, वे भी तो शिव की उपासना करते थे। अयोध्या और मिथिला में शंकर की उपासना होती थी। फिर राम रावण का संघर्ष क्या शैव-वैष्णवों का संघर्ष कहलायेगा ? रावण शिव का भक्त है। अपने सिर काट कर शिव पर चढ़ाता है पर क्यों ? क्योंकि वह विश्व को गुलाम बनाने की दुर्धर्ष शक्ति चाहता है

शिव से। क्या यह शिव की उपासना हुई? यह तो राक्षसी वासनाओं की उपासना हुई। गोस्वामी जी कहते हैं—

सादर शिवकहं सीस चढ़ाये। एक एक के कोटिन्ह पाये॥

एक सिर के बदले करोड़ सिर पाने में केवल बनियापना है। इसलिये कहा है—'भुज बल विश्व वस्य करि राखेसि कोउ न स्वतन्त्र' भगवान शंकर का नाम 'विश्वनाथ' है 'विश्वमूर्त्ति' है, जो उन्हीं से शक्ति लेकर उन्हीं के विश्व को पीड़ा देता है, शिव उसे सहन नहीं करते। अतः भगवान शंकर ने हनुमान के रूप में अवतीर्ण होकर श्रीराम का साथ दिया और रावण का विनाश कराया। यही कारण है कि पहले शंकर, हनुमान के रूप में राम के सेवक बने, श्रीराम ने समुद्र के तट पर रामेश्वर की स्थापना की और स्वयं शिव के सेवक बने। श्रीराम ने शिव के धनुष को उठाया था तोड़ा था पर इस पर शिव जी रुष्ट न हुए पर रावण ने कैलास उठाया तो ऐसे रुष्ट हुए कि अपने चरण अंगुष्ठ से रावण की कैलास को दबाकर रावण की भुजाओं को ऐसा दबोच दिया कि रावण अपने दसमुखों से वर्षों रोता रहा।

राम के बाणों से जब दशग्रीव रण में घायल हो रहा था तो भगवान शिव प्रसन्न हो रहे थे—

हमहू उमा रहे तेहि संगा। देखत राम चरित रण रंगा।

शिव भक्ति का दम्भ करने वाले रावण के विनाश की कथा के आचार्य भगवान शंकर ही हैं—

लिग थापि बिधिवत करि पूजा । सिव समान प्रिय मोहि न दूजा ।।

सिव द्रोही मम भगत कहावा । सो नर सपनेहुं मोहि न भावा ।।
संकर बिमुख भगति चह मोरी । सो नारकी मूढ़ मति थोरी ।।

दो०—संकर प्रिय मम द्रोही, सिव द्रोही मम दास ।
ते नर करहिं कलप भरि, घोर नरक महँ बास ।।

अन्त मे मेरा निवेदन है कि जो लोग, शंकर-भक्ति के नाम पर गांजा-भांग, चरस पीते हैं, भगवती जगदम्बा शक्ति की ओट में मांस-मदिरा का सेवन करते हैं, वे यदि शैव-शाक्त कहलाने लगेंगे तब तो आज कल के जितने गँजेड़ी-भँगेड़ी नशैलची हैं, शराबी-कबाबी हैं, वे सब शिव भक्त बन जायेंगे । ऐसे शैवों से वैष्णवों की पटरी कैसे बैठेगी ?

'वैष्णव जण तो तेणे कहिये जे पीर पराई जाणेरे' उक्त नकली शैवों के साथ वैष्णवों का संघर्ष तो अनादि का है । वहाँ उपासना नहीं वासना है । परमात्मा बचाये ऐसे लोगों से ।

रामचरित्र का एक प्रेरक सूत्र

हमारे शरीर में दो तत्व हैं, एक है भौतिक, दूसरा है अभौतिक। भौतिक तत्व जड़ है, अभौतिक है चेतन। भौतिक होता है लौकिक, साधारण। अभौतिक होता है अलौकिक, असाधारण। शरीर भौतिक है, शरीर के अन्तःपुर में ज्योतिर्मय आत्मा का अमर आलोक अभौतिक पञ्चतत्व के पुतले की सीमा में असीम का अद्‌भुत निवास।

पर इन दो तत्वों के संगम पर तो सब खड़े हैं, क्या कारण है कि एक राक्षस है दूसरा मानव, एक देव है दूसरा दानव ? कारण है, जो भौतिक अंश को चन्दन बनाकर चेतन के चरणों को चर्चित करता है, वह है मानव रूप में देव और जो व्यक्ति, जड़ शरीर को सेव्य के सिंहासन पर बिठाकर चेतन को उसके माथे पर चंवर चलाने की चाकरी में चढ़ा देता है वह है मानव रूप में राक्षस या दानव।

इस तथ्य को मानस के मञ्जु पटल पर देखें। तुलसीदास जी सम्राट् दशरथ का वर्णन करते हैं—

अवधपुरी रघुकुल मनि राऊ। वेद विदित तेहि दशरथ नाऊ ।।
धरम धुरन्धर गुननिधि ग्यानी। हृदय भगति मति सारंग पानी ।।

दशरथ के इस परिचय में उनके गुणों का उल्लेख है, शरीर का नहीं, सूक्ष्म का चित्र है स्थूल का नहीं, आत्मा की किरणों का विवरण है, शरीर की नाप जोख नहीं।

दशरथ के परिचय से दशमुख के परिचय की भी तुलना कर लें। गोस्वामी जी लिखते हैं--

दससिर ताहि बीस भुज दण्डा। रावन नाम वीर बरिबंडा।।

अथवा—भुजा बिटप सिर सृंग समाना।
रोमाबली लता जनु नाना।।
मुख नासिका नयन अरु काना।
गिरि कन्दरा खोह अनुमाना।।

यह है दशमुख की सर्वभक्षी भोगवादी भावना के अनुरूप विभ्राट देह का भयावह वर्णन।

एक का सुसंयत व्यक्तित्व समर्पित है, उदात्त आदर्शों के प्रशस्त पक्ष में तो दूसरे की बुभुक्षाकुल मुखश्रेणी गिरवी है वासना के अंक में।

दशरथ अपने वचनों के पोषण में प्राणों को अर्पित करते हैं तथा रावण अपने प्राणों के पोषण में अगणित प्राणियों के प्राणों को ले लेता है। उसकी दृष्टि में उसका अपना शरीर ही देवता है, आराध्य है, इसलिए वह और सब को अपना गुलाम बनाना चाहता है, तुलसीदास जी लिखते हैं—

ब्रह्मसृष्टि जहंलगि तनुधारी। दसमुख वसवर्ती नरनारी।।

सर्वत्र देवगण सिंहासन पर बिठाये जाते हैं, षोडशोपचार

से पूजे जाते हैं, पर रावण के यहाँ देवता कारागार में पड़े रहते हैं–

लोकप जाके बन्दी खाना

लोक में मानव डरता है कि देवगण रुष्ट न हों, देव रूठे तो जल बृष्टि नहीं होगी, अन्न पैदा न होगा। रावण को इसका डर नहीं था क्योंकि लंका के भोजन में अन्न की आवश्यकता नहीं है। वहाँ का खास खाद्य है :—

—"कहुं महिष मानुस धेनु खर अज खल निसाचर भच्छहीं" वहाँ पानी पीने का आम रिवाज नहीं है, वहाँ की पिपासा की तृप्ति करता है मदिरा कलश—

करसि पान सोवसि दिनराती

अथवा—"महिष खाइ करि मदिरा पाना"

या—रावण मांगेउ कोटि घट मद अरु महिष अनेक।

आज का शासक जन जन को भोजन देने की योजना बनायेगा पर रावण योजना बनाता है बड़ों-बड़ों को भूखों मारने की—–

छुधा छीन बलहीन सुर, सहजेंहि मिलिहैं आइ।
तब मारिहउं कि छाँड़िहउं, भली भाँति अपनाइ॥

रावण सोचता है, ये ऊपर वाले दिव्य लोग, भोजन न पायें तो विवश होकर मेरे चरणों में आत्मसमर्पण कर देंगे, तब उन्हें मिटाया जा सकता है या ये मेरे कदमों का अनुसरण करेंगे तो छोड़ा भी जा सकता है।

रावण एक ऐसा शासक है, जो स्वयं निर्भय बना रहना

चाहता है और चाहता है कि अन्य सब मुझसे भयभीत रहें, मैं केवल शासक अन्य सब शासित रहें, मैं चाहे जितने वाच्य कुवाच्य वचनों को सुनाता रहूं, दूसरे लोग उसे सुनकर 'यथार्थ है श्रीमान्' बोलें और सिर झुका लें। पवन कुमार ने रावण की सभा में यही सब देखा था—

कर जोरे सुर दिसिप बिनीता। भृकुटि बिलोकहिं सकल सभीता॥

श्री हनुमानजी पर रावण इसीलिये क्रुद्ध हुआ था कि यह निर्भय क्यों है—

—"देखउं अति असंक सठ तोही"

रावण मानता है, कि जो मेरे द्वारा किये गये अपमान को अपना राज सम्मान समझे वही लंका दरबार का एक आदर्शपूर्ण शिष्ट सेवक है, इसके विपरीत जो मेरे साथ अपमान-जनक व्यवहार करता है उसका एकमात्र दण्ड है प्राणहरण।

—बेगि न हरहु मूढ़कर प्राना।

सीता जी से रावण ने कहा था——

सीता तैं ममकृत अपमाना। कटिहौं तव सिर कठिन कृपाना॥

इसका अर्थ है कि रावण का कानून 'दुमुंहा' है, अपने लिये कुछ और तथा औरों के लिये कुछ और।

यह सब जानते हैं कि रावण खूब पढ़ा लिखा है, कभी-कभी ऐसे शास्त्र-सम्मत, लोक सम्मत आदर्श वाक्य बोलता है जिन पर उसने कभी आचरण नहीं किया। लंका के युद्ध में जब दिन प्रति दिन एक से एक वरिष्ठ सैनिक मारे जाने लगे, घर

घर में रावण की अनीति को गालियां दी जाने लगीं, तब रावण ने अपना स्वर बदला और बोला—

संसार नश्वर है, मृत्यु निश्चित है, एक दिन सबको मरना है, स्वामी के लिये प्राण देने वाले स्वर्ग के अधिकारी होते हैं—

—नश्वर रूप जगत सब देहु हृदय बिचारि ।

उस पर गोस्वामी तुलसीदास जी ने टिप्पणी लिखी—

पर उपदेस कुसल बहुतेरे । जे आचरहिं ते नर न घनेरे ।।

रणस्थल में रावण के सैनिक यदि भाग खड़े होते तो रावण कहता है—

जो रन बिमुख सुना मैं काना । तो मैं हतब कराल कृपाना ।।
सर्बसु खाइ भोग करि नाना । समर भूमि भये बल्लभ प्राना ।।

दूसरी ओर हैं श्रीराम। यदि कभी बानर सेना भाग खड़ी होती है, तो श्रीराम कहते हैं—हमसे भूल हो गयी, सेना नायक आराम से बैठा रहे, अकेले सैनिक लड़ते रहें यह उचित नहीं । श्रीराम ने युद्ध का क्रम बदल दिया, सेना पीछे और राम आगे—

राम सेन निज पाछे घाली । चले सकोप महाबलशाली ।।

दशरथ नन्दन श्रीराम की यह नीति है कि केवल भय के बल पर किसी को कर्त्तव्य परायण नहीं बनाया जा सकता, यदि कोई ऐसा प्रयास करता है तो उसका वह प्रयत्न, दशमुख का होगा, दशरथ नन्दन का नहीं । आश्रित का उचित सत्कार ही उसे कर्त्तव्यारूढ़ कर सकता हैं ।

एक नीतिकार का कथन है कि 'ऐसी कोई घास नहीं, जो

औषध न हो, ऐसा कोई शब्द नहीं जो मन्त्र न हो और ऐसा कोई व्यक्ति नहीं है जिसमें कोई न कोई योग्यता न हो, पर उनको लख लेने वाला पुरुष दुर्लभ है तथा उसे उपयोग में लाना, उसे उचित दिशा देना किसी वन्दनीय महापुरुष का ही काम है।

मुरारि कवि ने अपने 'अनर्घराघवम्' नाटक में एक बड़ा सुन्दर श्लोक कहा है—

यान्ति न्याय प्रवृत्तस्य तिर्यञ्चोऽपि सहायताम् ।
अपन्थानं तु गच्छन्तं सोदरोऽपि विमुञ्चति ।।

"न्यायपूर्ण पथ पर चलने वाले पुरुष की सहायता, पशुपक्षी भी करते हैं किन्तु कुमार्गगामी का साथ सगा भाई भी छोड़ देता है।" इस कथन में राम पक्ष एवं रावण पक्ष का सुन्दर लेखा-जोखा है। वानर और जटायु जैसे पशु पक्षियों ने श्री राम का साथ दिया और अन्यायी रावण को उसका सगा भाई विभीषण भी छोड़ गया।

माल्यवान रावण का नाना था, मन्दोदरी पत्नी थी, विभीषण और कुम्भकर्ण भाई थे, प्रहस्त मन्त्री था और रावण का इस नाम का एक पुत्र भी था, इन सबने अपने ढंग से सीता हरण का विरोध किया था, रावण ने इनका अपमान किया और कई लोगों पर शत्रु से मिल जाने का आरोप भी लगाया था। जिस शासक का अपने स्वजनों पर ही अविश्वास होगा उसे विनाश से कौन बचा सकता है ?

इधर थे दशरथ नन्दन राम। उन्होंने किसी को अपना गुलाम नहीं बनाया, दास नहीं बनाया, वानरों को अयोध्या के

विराट् दरबार में सखा शब्द से सम्बोधित किया, उन्हें भरत से अधिक सम्मान दिया, सुग्रीव को सम्राट् दशरथ के राजकीय भव्य भवनों में निवास दिया, स्वयं सामान्य महलों में रहे ।

बानरों को विदा देते समय श्रीराम ने कहा—

'सुमिरेहु मोहि डरेहु जनि काहू'

महत्वपूर्ण वाक्य है—'किसी से मत डरो' पर हाँ राम की मर्यादाओं को न भुलाना ।

राज सिंहासन पर बैठने के पश्चात् सम्पूर्ण प्रजा के लिये श्रीराम का एक महत्वपूर्ण वैधानिक भाषण होता है । भाषण के पूर्व अपनी प्रजा को वे एक महत्वपूर्ण अधिकार देते हुए कहते हैं—

जो अनीति कछु भाखहुं भाई । तो मोहि बरजेहु भय बिसराई ।

प्रभु श्रीराम, जन-जन को, सारे विश्व को, रावण के भय से मुक्त कर चुके हैं, अब वे अपने आपसे भी लोगों को निर्भय रहने को कहते हैं । 'अनीति' की दृष्टि से राम रावण में भेद नहीं किया जा सकता यदि रावण 'अनीति' करता है तो 'अनीति' बुरी है और राम 'अनीति' करेंगे तो क्या वह अच्छी हो जायगी ? नहीं, अनीति, अनीति है उसे रावण करे या राम ।

—तो मोहि बरजेहु भय बिसराई

श्रीराम के अवतार का प्रयोजन भी यही था—'मुनि सिद्ध सकल सुर परम भयातुर नमत नाथ पदकंजा' भयातुर प्राणियों ने प्रार्थना की, श्रीराम ने अभय वचन दिया—

जनिडरपहु मुनि सिद्ध सुरेसा । तुम्हहि लागि धरिहौं नर वेसा ।।

[illegible] है, जीवनादर्श का मेरुदण्ड तुल्य ।

वे कहते हैं—

'अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम'

सम्पूर्ण प्राणियों को अभय प्रदान करना, मेरा महान व्रत है । रावण के अत्याचार हुए, सारी मानवता पीड़ित हुई, पर पीड़ित मानव लोक के व्यथित हृदय ने रावण के चरणों में आत्म समर्पण नहीं किया, उन्होंने यही कहा—

मुनि सिद्ध सकल सुर परम भयातुर—

हम भयातुर हैं पर हमारा मस्तक अन्याय के चरणों में नहीं झुका, यह सिर केवल-'नमत नाथ पद कंजा' ।

ऐसे ही आत्म बल को उठाने के हेतु विश्वम्भर धरती पर उतरता है, जिस राष्ट्र में यह आत्मबल जीवित है, वह राष्ट्र अमर है ।

भक्त हृदय

यों तो प्रत्येक मानव का हृदय उसका मर्म केन्द्र होता है। अनन्त कामनाओं, महत्वाकाँक्षा और भावनाओं का भव्य भण्डार होता है। हृदय की दीवारों पर संस्कारों के अनोखे-अनदेखे रंग-बिरंगे बेलबूटों में सजे विविध चित्र अंकित होते हैं। हम कल्पना करें कि हमारा जीवन धरती से स्वर्ग तक फैला हुआ एक विशाल देश है—महान् राष्ट्र है, आश्चर्यों से भरा हुआ विचरण प्रदेश है, तो हम कह सकते हैं कि इस जीवन-राष्ट्र को ठीक-ठीक समझने, जानने के लिये हृदय एक मानचित्र है, जीवन-देश का नकशा है।

पर नहीं, हृदय का मात्र इतना ही परिचय नहीं है, उसकी गहराई, उसकी गरिमा, उसके औदार्य का धरातल इससे भी बृहत् है, विस्मय-विभूषित है। सोचिये तो, हृदय वह वस्तु है जिसकी सीमा में असीम समाया है जिसकी परिधि में देशातीत, कालातीत प्रभु आबद्ध है, बात भगवान की है और वह भगवान के वाक्य से ही प्रमाणित है—"ईश्वरः सर्व भूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति"। (गीता १८/६१)

कवीन्द्र शेखर श्री गोस्वामी तुलसीदास जी महाराज

अपने मानस के सजल सन्देश में हृदय की अतलस्पर्शी गहराई को अथाह सिन्धु की गहराई के रूप में बताते हैं, उनके बोल हैं–

"हृदय सिन्धु मति सीप समाना"

हृदय सिन्धु है, रत्नाकर है, बेचारी बुद्धि तो उसके किसी कोने में पड़ी सीप है। यह केवल रूपक या उपमा अलंकार मात्र नहीं है तथ्य का ठोस मूल्यांकन है।

ऐसा हृदय सबका है, जन-जन का है, पर भक्तों का हृदय ? अजी उसका तो डिपार्टमेंट ही अलग है उसकी तो "तीन लोक से मथुरा" ही न्यारी है। आप पूछेंगे यह कैसे ? तो सुनिये सबके हृदय में राम हैं····भक्तों के हृदय में भी राम हैं, तो अन्तर क्या है ? अजी 'अन्तरं महदन्तरम्' दुनियां के हृदय बैठे राम केवल द्रष्टा हैं–निर्लिप्त हैं, उदासीन–तटस्थ, निष्ठुरता के ठेठ हठीले ठाकुर ! साक्षी देते हैं साक्षात् मानस के क्षरातीत विलक्षण अक्षर––

व्यापक एक ब्रह्म अविनासी। सत चेतन घन आनंद रासी,।।
अस प्रभु हृदय अछत अविकारी। सकल जीव जग दीन दुखारी ।।

कितना बड़ा आश्चर्य है कि आनन्द ऐश्वर्य का, अद्‌भुत वैभव का भंडार भरा है हृदय में, पर लोग दीन हैं–सकल जीव जगदीन दुखारी, अनन्त आनन्द का सागर हिलोरें भर रहा है पर लोग दुखारी हैं और एक नहीं–दो नहीं, दस-बीस नहीं 'सकल जीव-सब-दीन दुखी हैं।

कारण क्या है ? कारण स्पष्ट है, एक सन्त की वाणी है—

घट घट मेरा साइयाँ, सूना घट नहीं कोइ ।
बलिहारी वा घट्ट की जा घट परघट होइ ।।

प्रभु बैठा तो है, पर परघट नहीं, प्रकट नहीं, अव्यक्त है अलक्ष्य है, अव्यपदेश्य है, अदृश्य है, निर्गुण, निराकार, निरतिशय निरंजन निष्क्रिय है । भला वह कैसे सहायता करेगा किसी की ? जो खुद नहीं खाता वह कैसे खिलायेगा दूसरों को ? जो स्वयं गतिहीन है वह दूसरों को जीवन में गति प्रगति कहाँ से देगा ?

पर भक्तों के हृदय में बैठे राम ऐसे नहीं, वहाँ तटस्थ नहीं धनुषवाण लेकर बैठते हैं और मार भगाते हैं लुटेरे लोभ को, मतवाले मोह को, डकैत डाह को, मनमौजी मद को और कुम्भकर्ण जैसे भारी भरकम अभिमान को—

तब लगि हृदय बसत खल नाना । लोभ मोह मत्सर मद माना ।।
जब लगि उर न बसत रघुनाथा । धरे चाप सायक कटि भाथा ।।

यह है सगुण साकार की सर्वातिशायी महिमा का महान् गान । यद्यपि निर्गुण-सगुण साकार-निराकर दो वस्तु नहीं एक ही अखण्ड ब्रह्म के सूचक हैं ।

"जय सगुन निरगुन रूप, रूप अनूप भूप सिरोमने"

वस्तुतः सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार शब्द एक दूसरे के पूरक हैं सापेक्ष हैं, गोस्वामी जी दोहावली ग्रन्थ में इस ग्रन्थि को खोलते हुए कहते हैं—

ज्ञान कहैं अज्ञान बिनु, तम बिन कहे प्रकास ।
निरगुन कहै जो सगुन बिन, सो गुरु तुलसीदास ।।

परन्तु ब्रह्म की निर्गुण आदि स्थिति ऐसी है जिसका व्यवहार से सम्बन्ध नहीं, जाति गुण-क्रिया से सम्बन्ध नहीं अतः उपयोगिता का वहां प्रश्न नहीं । इसलिये सन्त कवि दादू साहब कहते हैं—

घीव दूध में रमि रहा, राम रमा सब ठौर ।
'दादू' बकता बहुत हैं मथि काढ़े ते और ।।

श्री मद्‌भागवत तृतीय स्कन्ध नवम अध्याय चतुर्थ श्लोक में एक बड़ी सुन्दर बात कही है । ब्रह्मा जी के ध्यान में प्रभु के दिव्य मंगल रूप का आविर्भाव हुआ, उस अनन्त सौन्दर्य माधुर्यादि गुण-गण श्री हरि का साक्षात्कार पाकर कृतकृत्य हो गये, बड़ी मनोहारिणी स्तुति की, कहते हैं—

तद्वा इदं भुवनमंगल मंगलाय,
ध्याने स्म नो दर्शितं त उपासकानाम् ।
तस्मै नमो भगवतेऽनुविधेम तुभ्यं
योऽनादृतो नरकभाग्भिरसत्प्रसंगैः ।। —भा० ३-९, ४

हे भुवनमंगल, विश्व कल्याणमय ! 'ते तव उपासकानाम्' हम तुम्हारे उपासक हैं हमारे मंगल के लिये ध्यान में आपने अपना रूप दिखलाया है— 'तस्मै नमो भगवतेऽनुविधेमतुभ्यं' ऐसे भगवान के लिये हम नमन करते हैं । श्लोक का अन्तिम चरण बड़ा प्रेरक है 'यो नादृतोनरकभाग्भिरसत्प्रसंगैः,—उन लोगों ने सज्जनों का संग नहीं किया है, दुर्जनों का ही उन्हें साथ मिला

है जो भगवान के सगुण साकार स्वरूप का अनादर करते हैं, वस्तुतः वे नरक गामी हैं।

कैसी कड़ी चेतावनी है उन शुष्क ज्ञानियों के लिये जो सगुण-साकार को माया शबलित कहकर उसे तुच्छ बताने की हिमाकत दिखाते हैं। उसे निम्नकोटि के लोगों का उपास्य बताते हैं। यदि ऐसे लोग भी वेदान्त के ज्ञाता माने जायेंगे तो वेदान्त का अर्थ ही बदल जायेगा। तब तो अर्थ होगा वेद का अन्त, वेद की समाप्ति-विनाश। सच बात तो यह है कि जिसमें प्रभु का प्रेम नहीं वह वेदान्ती कच्चा है। गोस्वामी जी कहते हैं–

सोह न राम प्रेम बिनु ज्ञानू। करनधार बिनु जिमि जलयानू॥

मानस में एक प्रसंग आता है उत्तर काण्ड में। उससे पता लगता है कि कितना महत्वपूर्ण अन्तर है ज्ञानी और भक्त में। दूसरे शब्दों में ज्ञानी का हृदय और भक्त का हृदय कैसा होता है इसका अच्छा खासा लेखा जोखा वहां प्रस्तुत किया गया है–

यह प्रसंग एक प्रश्न के उत्तर में उत्तरकाण्ड में वर्णित हुआ है, वह प्रश्न क्या था ? सचमुच वह प्रश्न भी अद्‌भुत था क्योंकि वह दो महान् स्थानों से प्रगट हुआ, वैकुण्ठ निवासी, बैकुण्ठनाथ के महान् यान गरुड़ के द्वारा। यही प्रश्न उठा कैलाश के उज्ज्वल सजल शीतल भाग से—भगवान शंकर के कैलाश से। एक प्रश्न था और उसने दो स्थानों को छू दिया वैकुण्ठ एवं कैलाश को ? कैसे ? देखिये—प्रश्न पूछती हैं नगराज-नन्दिनी, निखिल जन वन्दनीया, महामहिमा से मण्डित महेश की मनो-मोहिनी उमा।

बिरति ज्ञान बिज्ञान दृढ़, राम चरन अति नेह ।
बायस तन रघुपति भगति, मोहि परम सन्देह ।। मा०-७-५३

प्रभो ! मेरी यह देह आपका ही तो अर्धाङ्ग है । इस देह में परम सन्देह प्रविष्ट हो गया है नाथ, उसे अविलम्ब दूर कीजिये । अर्धोन्मीलित-लोचन त्रिलोचन कुछ मुसकराये, जिज्ञासा भरी दृष्टि डाली उमा पर, मानो पूछा कौन है वह परम सन्देह ? नगपति किशोरी ने समझाया—जहां ज्ञान-विज्ञान दृढ़ वैराग्य हो, लोकाभिराम श्री राम के चरणों में अत्यन्त स्नेह हो ऐसी सर्वांगपूर्ण रघुपति भक्ति किसी कौवे के शरीर में हो तो इससे बढ़कर सन्देह क्या हो सकता है ? इससे बढ़कर आश्चर्य क्या हो सकता है ? इस बिसंगति को अधिक स्पष्ट करने के लिये गिरीन्द्र कन्या गौरी ने जो भक्ति का गौरवशाली गान किया है वह तो भक्तों के हृदय का रससिद्ध सामगान है उनके शब्द हैं—

नर सहस्र महं सुनहु पुरारी । कोउ एक होय धर्म ब्रतधारी ।।
धर्मसील कोटिक महं कोई । विषय विमुख विराग रत होई ।।
कोटि बिरक्त मध्य श्रुति कहई । सम्यक ज्ञान सकृत कोउ लहई ।।
ज्ञानवन्त कोटिक महं कोऊ । जीवन मुक्त सकृत जग सोऊ ।।
तिन्ह सहस्र महुं सब सुख खानी । दुर्लभ ब्रह्मलीन विज्ञानी ।।
धर्मशील बिरक्त अरु ज्ञानी । जीवन मुक्त ब्रह्म पर प्रानी ।।

हेमवती उमा ने जीवनमुक्त ब्रह्मानन्द निमग्न प्राणी को सर्वोच्च शिखर पर पहुंचा दिया पर आगे बोलीं—

सब ते सो दुर्लभ सुरराया । राम भगति रत गत मदमाया ।।

भगवती की इस वाणी में जिस सिद्धांत का प्रतिपादन हुआ है वह केवल अबला सुलभ भावना का उद्‌गार मात्र नहीं है वह तो शास्त्र का एक परम तात्पर्य स्वरूप सारपूर्ण विवेचन है ।

इस पद्धति का प्रथम संकेत, भारत-सागर की कौस्तुभ-मणि तुल्य गीता में उपलब्ध होता है ।

> मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद् यततिसिद्धये ।
> यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वत: ।। (गीता ७/३)

सहस्रश: मनुष्यों में कोई विरला ही सिद्धि के हेतु प्रयत्नशील होता है । यहां सिद्धि का अर्थ है—आत्मज्ञान । भगवान श्री शंकराचार्य ने भी यही कहा है—"सिद्धा एव हिते ये मोक्षाय यतन्ते, यततामपि सिद्धानाम्"—श्रीधर स्वामीपाद कहते हैं—'प्रयत्नं कुर्वतामपि सहस्रेषु कश्चिदेव प्रकृष्ट पुण्यवशात् आत्मानंवेत्ति' प्रयत्न करने वाले सहस्रों में कोई विरला ही आत्म तत्व को जानता है । ऐसे आत्मज्ञान सिद्ध हुये सहस्रों में से कोई विरला ही मेरी कृपा से मुझ परमात्मा को जानता है—ऐसा कथन है प्रभु का ।

जिस आत्मज्ञान की महती ख्याति है, जो आत्मज्ञान ज्ञानों में शिरोरत्न है वह आत्मज्ञान तो केवल प्रभु की लीलाओं को जानने वाला पुरुष सहज ही प्राप्त कर लेता है । इस सम्बन्ध में गीता का यह श्लोक कितनी महत्वपूर्ण सूचना देता है । श्री हरि कहते हैं—

> जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वत: ।
> त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ।। (गीता ४/९)

मेरा जन्म, मेरा कर्म दिव्य है, मेरा अवतार और मेरी लीलाएं लोकोत्तर हैं, जो ऐसा समझ लेता है, हे अर्जुन ! पुनर्जन्म नैति, वह पुनर्जन्म से मुक्त हो जाता है । जन्म मरण से छूट जाता है । यों सगुण साकार श्रीहरि की लीला ही जीव को मुक्ति दे देती है पर यह तो आनुषांगिक फल है उसका रस तो यह है कि 'स मामेति' वह मुझे पा लेता है ।

मानसगत पार्वती के कथन में श्रीमद्भागवत की भी दिव्य साक्षी है । भागवत षष्ठ स्कन्ध १४ अध्याय में वृत्रासुर की श्रीहरि में अद्भुत अनुरक्ति को देखकर राजा परीक्षित ने शुक स्वामी से कहा—महाराज, जो भगवद् भक्ति तत्व इतना दुर्लभ है जिससे शुद्ध सत्व प्रधान देव वृन्द, अमलात्मा ऋषिकुल वंचित रह जाते हैं ऐसा दुराप भक्ति तत्व मलिनात्मा तमः प्रधान दैत्य के अन्तराल में कैसे महक उठा ?

राजा परीक्षित के शब्द हैं—

रजोभिः सम संख्याताः पार्थिवैरिह जन्तवः । (भाग० ६/१४/३)
तेषां ये केचनेहन्ते श्रेयो वै मनुजादयः ।।

पृथ्वी के धूलिकणों के समान अनन्त जन्तु हैं—प्राणी हैं, उनमें मानव श्रेष्ठ है, उन मानवों में भी कुछ विरले ही ऐसे हैं जो धर्मादि की कामना करते हैं और यही भाव तो भगवती की भव्य प्रश्नावली में खिलकर ऊपर आया है । उन्होंने कहा था—

नर सहस्र महं सुनहु पुरारी । कोउ एक होइ धर्म व्रतधारी ।।

सारग्राही श्रोता परीक्षित आगे कहते हैं—

प्रायो मुमुक्षवस्तेषां केचनैव द्विजोत्तम ।

मुमुक्षूणां सहस्त्रेषु कश्चिन्मुच्येत सिध्यति ।।

उन धर्म परायण पुरुषों में प्रायः विरले ही ऐसे होते हैं जिन्हें मुक्ति पाने की इच्छा होती है। उन सहस्रों मुमुक्षुओं में कोई विरला ही मुक्त होता है।

पर आश्चर्य है कि इस शृंखला को उन्होंने और आगे बढ़ा दिया, वस्तुतः मुक्ति तो अन्तिम लक्ष्य है उससे आगे भला कोई कहाँ जायगा ? पर यहां बात आगे चलती है।

मुक्तानामपि सिद्धानां नारायण-परायणः ।
सुदुर्लभः प्रशान्तात्मा कोटिष्वपि महामुने ।।

कोटि-कोटि सिद्ध मुक्तो में भी प्रशान्तचित्त नारायण-परायण सुदुर्लभ है, अत्यन्त दुष्प्राप है।

शंकर प्रिया गिरिजा की गरिमा से गुम्फित निगमकल्पवल्ली की फलस्वरूपा वाणी भी यही है। उन्होंने कहा है--

सबते सो दुर्लभ सुरराया । राम भगति रत गत मद माया ।

धर्मशील, विरक्त, जीवनमुक्त, अखण्ड रसघन ब्रह्मानन्द निमग्न नर, उत्तरोत्तर उत्कृष्ट है, इन सब में उत्कृष्टतम नर वह है जिसमें अत्यन्त दुर्लभ रसासारवर्षिणी श्रीरामभक्ति का भव्य निवास है, भला ऐसी दुर्लभ भक्ति उस कौए में कैसे आई जो भीतर बाहर दोनों ओर से काला है ?

सो हरि भगति काग किमि पाई । विश्वनाथ मोहि कहउ बुझाई ।

यह प्रश्न उठा उज्ज्वल हिमालय से—आगम की गहराई से

और [illegible] की पृष्ठ-भूमि से, एक थी ज्ञान प्रधान भूमि और दूसरी थी भक्ति प्रधान भूमि ।

गरुड़ जी प्रश्न करते हैं–

तुम सर्वज्ञ तज्ञ तम पारा । सुमति सुशील सरल अचारा ।।
ज्ञान बिरति बिज्ञान निवासा । रघुनायक के तुम प्रिय दासा ।।
कारन कवन देह यह पाई । तात सकल मोहि कहहु बुझाई ।।

प्रश्न में यदि कुछ अन्तर है तो यह कि पार्वती पूछती है–"वायस तन रघुपति भगति" कैसे, यह पूछते हैं––कारन कवन देह यह पाई ।

इस महत्वपूर्ण प्रश्न के मूल में भक्ति की महिमा का महान् गान है । यह केवल मानस का ही स्वर नहीं श्रीमद्भागवत का उद्भव विन्दु भी यही है । कृष्णद्वैपायन व्यास, निखिल निगमों का निगमन करने के पश्चात उनके अर्थों को महाभारत जैसे विशालकाय ग्रन्थ में गुम्फित करने के पश्चात् भी शान्ति नहीं पाते हैं तो नारद के द्वारा उन्हें भक्ति तत्त्व का उपदेश दिया जाता है । और देखिये, भागवत के माहात्म्य भाग में निखिल वेद वेदान्त घोष भी मुमूर्ष ज्ञान वैराग्य में चेतना नहीं डाल सके, उन्हें जीवित कर सका भागवत । एक तीसरा कारण सुनिये—

सम्पूर्ण कर्मपद्धति के पण्डित यह जानते हैं कि प्रत्येक कर्म के पूर्व उस कर्म का उद्देश्य मूलक संकल्प होता है । भागवत

का संकल्प क्या है ? ब्रह्म के संकल्प का—"एकोऽहं बहुस्याम्" इस महान् सूत्र का उपबृंहण करने वाले ब्रह्मा ने चतुःश्लोकी भागवत सुनाने के पश्चात् अपने हृदय संभूत नारायण परायण नारद से कहा—

> इदं भागवतं नाम यन्मे भगवतोदितम् ।
> संग्रहोऽयं विभूतीनां त्वमेतद् विपुलीकुरु ।।
> यथा हरौ भगवति नृणां भक्ति र्भविष्यति ।
> सर्वात्मन्यखिलाधारे इति संकल्प्य वर्णय ।। २/७/५१-५२

सर्वात्मा, अखिलाधार, भगवान् श्री हरि में मानवों की भक्ति हो, इस संकल्प को लेकर भागवत का वर्णन कीजिये । अतः भागवत का मूल स्वर है भक्ति ।

जिस काक शरीर को लेकर सन्देह का उदय हुआ है वस्तुतः वह काक शरीर क्या था ? कहना होगा कि वह था किसी निरे शुष्क ज्ञानी के हृदय का रूप, जिसे एक भक्त ने उनके हृदय से उनके इस मलीमस को निकाल बाहर किया, बाहर ही नहीं किया उसे भक्त ने अपने ऊपर ओढ़कर परम वन्दनीय बना दिया ।

उत्तरकाण्ड का यह काकभुसुण्डि—गरुड़ सम्वाद सिद्धान्त का सामगान है । गरुड़ के उत्तर में काकभुसुण्डि ने अपने पूर्व जन्म का चरित्र कहा—काल का लम्बे से लम्बा पर्दा उनके ज्ञान का तिरोधान नहीं करता । चरित्र के पूर्वार्द्ध में उन्हें शाप लगा शिव का और चरित्र के उत्तरार्द्ध में शाप लगा महर्षि लोमश का । उन्हें दोनों शाप फलीभूत होते हैं । चरित्र का पूर्वार्द्ध

कट्टर शिवोपासना से संयुक्त है और चरित्र का उत्तरार्द्ध रामोपासना में समर्पित होता है। जातीय दृष्टि से पूर्व चरित्र का शूद्रतनु से सम्बन्ध है, पर चरित्र का उत्तरार्द्ध तो नृसिंह शरीर से भी विलक्षण है। वे ब्राह्मण रूप से परिणत होते हैं– इसी शरीर में काग रूप प्रविष्ट हो गया।

अपने मुख से अपनी विचित्र जीवन गाथा का श्री गणेश करते हुये कागराज गरुड़ से कहते हैं––

सुधि मोहि नाथ जन्म बहुकेरी। सिव प्रसाद मति मोह न घेरी।।

चरित्र के पूर्वार्द्ध का आरम्भ शूद्र शरीर से है और शिव के कोप भाजन होकर वे अनेक तिर्यक योनियों में पैदा होते हैं अन्ततः ब्राह्मण शरीर मिलता है। ब्राह्मण का शरीर सामान्य शरीर नहीं है––

ब्राह्मणस्य शरीरोऽयं क्षुद्रकामाय नेष्यते।

ब्राह्मण का शरीर क्षुद्रकामनाओं की पूर्ति हेतु नहीं होता। भगवान भाष्यकार महर्षि पतंजलि कहते हैं––"ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडंगो वेदोध्येयो ज्ञेयश्च" ब्राह्मण का अहैतुक धर्म है अर्थ सहित वेदों का अध्ययन। अतः उनके पिता ने पढ़ाने का सत्प्रयास किया, पर––

हारेउ पिता पढ़ाय पढ़ाई।

पिता पढ़ा पढ़ा कर हार गये, ये पाठशाला न गये न पढ़े। पर क्या ये पढ़े नहीं थे? अजी, जब पण्डित स्वयं थे तो पढ़ते क्या? पिसे हुये को पीसना क्या? पिष्टपेषण व्यर्थ। आप

पूछेंगे पण्डित कैसे हो गये ? तो सुनिये—गीता में पण्डित का प्रथम लक्षण है—

गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः । (गीता २/११)

जो गतप्राण हो गये या जिनके प्राण नहीं गये दोनों के विषयों में जो शोक नहीं करते वे हैं पण्डित। इस दृष्टि से काग-भुसुण्डि का पाण्डित्य सर्व विलक्षण है । औरों की तो बात क्या है इन्होंने तो हजारों बार अपने को मरते देखा । कितनी पीड़ा होती है प्राण निकलने में—

जनमत मरत दुसह दुख होई

पर क्या उन्हें शोक हुआ ? अजी काहे का शोक, स्वयं उनका कथन है—

जोइ तनु धरउं तजउं पुनि अनायास हरिजान ।
जिमि नूतन पट पहिरइ नर परिहरइ पुरान ।।

गीता के श्लोक का यहां कितना सटीक एवं सुन्दर भाव है—

जिमि नूतन पट पहिरइ—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही ।। (गीता२/२२)

इस श्लोक का पाठ करना तो सरल है पर इसका ठाठ कठिन है । पर इनके लिये सब अनायास था । यह स्थिति उप-लब्ध हुई गुरु की कृपा से । शिव ने शाप दिया, गुरु ने उस शाप को वरदान में बदल दिया, अनन्त शरीरो में गये, पर उनका ज्ञान खण्डित नहीं हुआ—ज्ञान न गयेउ खगेस—केवल गीता में पढ़

लेने से, बार बार दुहरा देने से इस स्थिति का दर्शन सर्वथा दुर्लभ है अतः गीता में की गई पाण्डित्य की परिभाषा के अनुसार ये पण्डित थे और पिताजी इन्हें पढ़ाना चाहते थे। इन्होंने चौरासी लाख योनियों के साँचे ढाँचे में अपने आप को ढलते देखा, शरीर की नश्वरता का अपनी प्रयोगशाला में प्रयोग करते देखा। आत्मा की अमरता का मनोहर रूप देखा। उन्हें पिता बेचारे पढ़ाना चाहते थे। पण्डित की एक परिभाषा और हमारे कबीर साहब के दोहे में है—

पढ़ि पढ़ि के सब जग मुआ पण्डित भया न कोय।
ढाई अक्षर प्रेम का पढ़े सो पण्डित होय॥

और यह पढ़ाई तो वस्तुतः अन्तिम पढ़ाई है, इसमें इनका प्रवेश है। वे स्वयं कहते हैं—

मन ते सकल बासना भागी। केवल राम चरन लव लागी॥

अतः इनमें पूर्ण पाण्डित्य है।

इस प्रकार इन्होंने पहले गृह की पड़ाई छोड़ी और पुनः आये सघन वनों में, वहाँ उन्होंने मननशील मुनियों की भी पढ़ाई छोड़ी। उन्होंने क्या पढ़ाना शुरू किया ? गोस्वामी जी लिखते हैं——

जेहि पूछउं सो मुनि अस कहही। ईश्वर सर्वभूत मय अहही॥

ईश्वर सर्वभूतमय है। सम्पूर्ण प्राणियों के अन्तराल में है उसे बाहर न देखो, वह चर्म चक्षुओं से नहीं दिखता, तो जो दिखाई देता है वह ईश्वर नहीं ? यह पढ़ाई खण्डित सत्य है अतः इन्होंने इसे भी छोड़ा। अब पहुँचे सुमेरु पर्वत पर, सुवर्णमय

सुमेरु गिरीन्द्र के गगनगामी समुन्नत शिखर पर, गोस्वामी जी लिखते हैं—

मेरु शिखर वट छाया, मुनि लोमस आसीन।
देखि चरन सिर नाउंउ बचन कहेउं अतिदीन ।।

योग्य शिष्य अनुरूप गुरु के समीप गया। गुरु थे लोमश, काल की विशाल लम्बाई जिन्हें अपने घेरे में न ले सकी, काल के अनन्त उतार चढ़ावों को जिन्होंने अच्छी प्रकार से देखा था जिन्हें मौत की छाया भी न छू सकी ऐसे दीर्घ जीवी थे लोमस। शिष्य भी अद्‌भुत था। उसे भी अनन्त जीवनों का अनुभव था। अन्तर था तो केवल इतना कि महर्षि लोमस ने दूसरों के उतार चढ़ाव देखे थे, दूसरों को मरते जन्म लेते देखा था, पर इनका शिष्य इनसे विलक्षण था। इसने विश्व के असंख्य उतार-चढ़ावों को अपने जीवन की प्रयोगशाला में प्रयोग करके देखा था। अपने जन्म मरण को अपनी आँखों से देखकर समझा था, अतः शिष्य का अनुभव प्रयोग सिद्ध हो चुका था, पर गुरुजी का अनुभव अभी प्रयोगाधीन था।

शिष्य ने गुरु की स्थिति का अवलोकन किया तो बड़े प्रसन्न हुये, गुरु का आसन स्वर्ण शिखर पर था, ज्ञानी की उच्च स्थिति का प्रतीक। सोने में जंग नहीं लगती अतः निर्विकार निर्दोष ज्ञान। सुवर्ण अग्नि जन्य है, तो ज्ञान जन्य है उनकी निर्विकार स्थिति। उनकी आस्था अटल है। सोना तपकर निखरता है। इनका ज्ञान भी तप के द्वारा चमक गया था। उनके ऊपर थी वट की छाया, वट तो विश्वास का प्रतीक है।

—बट विश्वास अचल निज धरमा

शिष्य ने समझा कि जो विश्वास की अखण्ड छत्र छाया में बैठा है, वह दूसरे के विश्वास का भी आदर करता होगा, मेरा ऐसा विश्वास था ।

सुनि मम वचन विनीत मृदु मुनि कृपालु खगराज ।
मोहि सादर पूछत भये द्विज आयेहु केहि काज ।।
तब मैं कहा कृपानिधि तुम सर्वज्ञ सुजान ।
सगुन ब्रह्म अवराधन मोहि कहो भगवान ।।

गुरु के प्रति शिष्य का जो आदरातिशय है, वह उनके प्रति प्रयुक्त विशेषणों से सम्यक् व्यक्त होता है, वह उन्हें भगवान कहते हैं, षडैश्वर्य सम्पन्न बताते हैं, कृपानिधि, सर्वज्ञ सुजान, सगुण एवं निर्गुण ब्रह्म की आराधना पद्धति के प्राज्ञ पण्डित, अतः भगवान—कहा गया ।

यहाँ दो विशेषण कुछ मिलते-जुलते से हैं, वे हैं सर्वज्ञ और सुजान । पर विचार करने से एवं उनका एक साथ प्रयोग करने से ही स्पष्ट है कि वे भिन्न भिन्न अर्थ रखते हैं, सर्वज्ञ शब्द बुद्धि की चरम सीमा को छूता है तो सुजान शब्द हृदय की गहराई में गोता लगाता है । सर्वज्ञ अन्तरंग है, उसकी अपेक्षा सुजान कुछ बहिरंग, सर्वज्ञ शब्द के भी दो अर्थ हैं एक सामान्य दूसरा विशिष्ट । सर्व जो सर्व को-लोक के सम्पूर्ण व्यापारों को, विकास को उन्नति अवनति को गति-अगति को जानता है वह है सर्वज्ञ । इसका दूसरा अर्थ है कि जो सर्व है अर्थात् जो सर्व रूप प्रभु है उसे जो जानता है वह है सर्वज्ञ और सुजान वह

है जो जीव के दौर्बल्य को जानता हुआ भी उसके प्रति सहानु-भूति रखता है, उसके कल्याण की कामना करता है। साथ ही लोक मर्यादाओं के परस्पर उभरे हुये विरोधांश का परिहार कर निर्वाह करने की कला में प्रवीण है वह है सुजान। हमारे प्रभु को भी इन विशेषणों से कई स्थलों पर विभूषित किया गया है उन्हें सुजान राय रामचन्द्र कहा है। अस्तु, तो श्री लोमश जी के प्रति जो उनकी भावना है उसका सुन्दर रूप प्रकट किया गया। परन्तु 'काग भुसुण्डि' (सुविधा के लिये हम उन्हें इसी नाम से पुकारते हैं, यद्यपि उनका यह नाम तो बाद में पड़ा पर ब्राह्मण रूप का उन्होंने कोई अपना नाम नहीं बताया) यहां एक बात पर दृष्टि नहीं गयी, महर्षि लोमश की उच्चता का दर्शन है, उनके ऊपर छाये हुये वट वृक्ष की छाया का उल्लेख है पर एक महत्वपूर्ण वस्तु वहाँ नहीं थी। वहां सब कुछ था पर झरना नहीं था सजलता नहीं थी। सजलता के अभाव में रूक्षता का रहना स्वाभाविक है। फलतः लोमश जी ने सगुण ब्रह्म की थोड़ी सी चर्चा की--

तब मुनीस रघुपति गुण गाथा। कहे कछुक सादर खगनाथा॥

परन्तु जिसकी जिस पद्धति में आस्था है, अभ्यास है, वह तो उसी को श्रेष्ठ समझता है। इसीलिये—

लागे करन ब्रह्म उपदेशा। अज अद्वैत अगुन हृदयेसा॥
अकल अनीह अनाम अरूपा। अनुभव गम्य अखण्ड अनूपा॥
मन गोतीत अमल अविनाशी। निर्विकार निरवधि सुखरासी॥
सो तैं ताहि तोहि नहिं भेदा। वारि बीचि इमि गावहिं वेदा॥

झंझट इस बात पर रहा—सो तैं ताहि तोहि नहिं भेदा।

जीवो ब्रह्मैव नापरः। वैसे भक्ति का ज्ञान से विरोध नहीं। लक्ष्य की दृष्टि से भी अन्तर नहीं है।

ज्ञानहि भगतिहि नहिं कछु भेदा।
उभय हरहिं भव संभव खेदा॥

भक्ति को ज्ञान शून्य बताने का अर्थ है भक्ति अज्ञान है, इस भक्ति को देखने के लिये तो ज्ञान-वैराग्य के नेत्र चाहिये। श्रीमद्भागवत के माहात्म्य में ज्ञान वैराग्य को भक्ति के पुत्र बताया है, वहां विरोध कैसा ? भला ऐसा विवेकहीन कौन होगा जो भक्ति को विवेकहीन बतायेगा ? फिर झगड़ा किस बात का है ?

अजी, झगड़ा यह था जो कि लोमश ने कह दिया।

सो तैं ताहि तोहि नहिं भेदा।

इतना कहना था कि कागराज के मन में अनन्त जन्मों के पर्दे चीरकर उस आदि गुरु की वाणी सामने आ खड़ी हुई। ये अपने मन में अनुमान की माला पिरोने लगे। इन्होंने विचार किया कि उस परमात्मा में, परब्रह्म में कोई अन्तर नहीं, कोई भेद नहीं, वही मैं हूँ। अजी, वह तो जगत्पिता है–"जगत पिता रघुपतिहि विचारी," "जगत पिता मैं सुत करि जाना"।

प्रभु के प्रिय सखा अर्जुन मानते हैं।

—पितासि लोकस्य चराचरस्य। (गीता ११/४३)

आप निखिल चराचर के पिता हैं और यह कोरी अर्जुन की ही मान्यता नहीं है, श्री हरि स्वयं कहते हैं।

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता॥ (गीता १४/४)

हे अर्जुन, सर्वयोनियों में जो शरीर उत्पन्न होते हैं उन

सबकी योनि महत्तत्व है, उसमें बीज डालने वाला पिता मैं हूँ। तो प्रभु हुए पिता, हम हुए उनके पुत्र। महात्मा जी यह समझा रहे हैं कि बाप बेटा में कोई फर्क नहीं, जो पिता हैं वही पुत्र है। कोई कह सकता है—अजी ठीक तो है, शास्त्र का वचन है 'आत्मा वै जायते पुत्रः' पिता की ही आत्मा पुत्र है, पर नहीं, इसमें यह वाक्य प्रमाण नहीं हो सकता, क्यों? क्योंकि यदि पिता की आत्मा ही पुत्र होता तो पुत्र के पैदा होते ही पिता को समाप्त हो जाना चाहिये। पिता जब पुत्र रूप में आये तो पिता को गायब हो जाना चाहिये पर ऐसा नहीं होता, और भी बहुत भेद हैं जो सर्वजन्य बोध्य हैं। अतः ऐसा लगा कि महात्मा जी बात असंगत कह रहे हैं। पुनः उनके जीवन में ये दूसरे गुरु हैं। प्रथम गुरु के वाक्य भी विस्मृत नहीं हुए, उनका शील एक क्षण के लिये भी हृदय से नहीं हटा था, उन्होंने स्वयं कहा—

एक शूल मोहि विसर न काऊ। गुरु कर कोमल सील स्वभाऊ ॥

इन गुरु देव का वाक्य था—

रामहि भजहिं तात सिव धाता। नर पामर कै केतिक बाता ॥

अर्थात् श्री हरि स्वामी हैं हम सब सेवक हैं पर महात्मा जी कहते हैं स्वामी सेवक में कोई भेद नहीं, कभी सेवक स्वामी के चरण दबाये तो कभी स्वामी सेवक के।

जीव ब्रह्म हो जाता है। यह कैसी बात, क्या जुगनू सूर्य बन जाता है? नहीं, नहीं। ब्रह्म तो उसे कहते हैं 'यतो

वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत् प्रयन्ति अभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्म' है। ये सामर्थ्य क्या उस मुक्त जीव में आज है ? नहीं यह नहीं, जगद्व्यापार वर्ज प्रकरणात् असन्निहितत्वात् (ब्रह्म ४/४/१७)।

महात्मा जी कहते—सो तैं ताहि तोहि नहिं भेदा।

जीव ब्रह्म हो जाता है, मन में इसके विपरीत कल्पना उठी, क्या ये कथन किसी भावना पर स्थित है या किसी वस्तु स्थिति पर। यदि वस्तु स्थिति पर अवस्थित है तो कहने की आवश्यकता क्या ? क्या कभी आग कहती है कि मैं आग हूँ, क्या कस्तूरी की सुगन्ध कहती है कि मैं कस्तूरी हूँ, मुझे सूँघो, क्या सूर्य कहता है कि मैं सूर्य हूँ और क्या कोई कहने से कुछ बन जाता है ? यह तो ऐसा हुआ कि किसी के पास पृथ्वी के नाम पर हाथ भर भी जमीन का टुकड़ा नहीं, महलों के नाम पर दूसरों के मकान में किराये पर रहता है। खजाने के नाम पर एक फूटी कौड़ी पास न हो। सेवकों के स्थान पर स्वयं दफ्तरों के चपरासी बनने के लिये घूमते हैं। ऐसे लोग बैठकर किसी के कहने से जप करना शुरू कर दें—मैं सबका राजा हूँ। मैं सारी दुनिया का शाहंशाह हूँ तो क्या वह राजा हो जायेगा ? शाहंशाह बन जायेगा ? कदापि नहीं।

मन मोदक नहिं भूख बुताई।

लोमश जी ताड़ गये कि इस ब्राह्मण के मन में कुछ गड़बड़ चल रहा है। वे बोले—अरे ब्राह्मण देव ! किस सोच में पड़ गये ? शायद तुम सोचते होगे कि अल्पज्ञ क्षुद्र जीव ब्रह्म कैसे

बन सकता है ? देखो, प्रश्न यहाँ ब्रह्म बनने का नहीं है तुम तो पूर्णतः ब्रह्म हो, आलरेडी ब्रह्म हो। अज्ञान का पर्दा हटा नहीं कि तुम ब्रह्म हो गये। देखो एक उदाहरण—

किसी राजकुमार को जंगली लोग उठा ले गये और वह उनमें रहकर जंगली बन गया। बाद में उसे लाकर समझाया गया कि तू राजकुमार है जंगली नहीं, उसी प्रकार जीव माया के चक्कर में पड़ गया तब उसे तत्वमसि आदि वाक्यों से समझाया गया—'अरे तू ब्रह्म है'। गुरु जी की बात सुनते ही मेरी तो नाड़ी खिसक गयी। हाय यह कैसा ब्रह्म ? जिसे माया बहका ले गयी। और इस माया ने तो ब्रह्म के भी कान काट लिये। क्या करूँगा ऐसा ब्रह्म बनकर। हे हरिवाहन वेदात्मा गरुड़ ! मैंने लोमश जी के इस उदाहरण पर विचार किया कि राज-कुमार को जंगली उठा ले गये। भला ये कैसे हो सकता है। जब जीव ब्रह्म हो तो जंगली भी ब्रह्म थे और वे जिसे उठा ले गये वह राजकुमार भी ब्रह्म, ब्रह्म को ब्रह्म उठा ले गये यह क्या गोरख धन्धा ?

गुरुवर लोमश जी ने मेरी मनः स्थिति को भांप कर समझाया, देखो ब्राह्मण देव, तुम सगुण-साकार की साग्रह चर्चा सुनना चाहते हो, उसके दास बनना चाहते हो तो मैं तुमको साफ साफ बात बता देना चाहता हूँ कि जो सगुण-साकार राम हैं वह शुद्ध ब्रह्म नहीं है उनका शरीर भी मायिक होता है उनके शरीर का उपादान कारण माया होती है, मैं चाहता हूँ तुम शुद्ध ब्रह्म बनो—बनो क्या हो हो।

हरि [illegible] यह सुनकर तो मेरे हृदय पर हथौड़े का प्रहार हुआ और फिर मुझसे चुप नहीं रहा गया, मैंने कहा--महात्मा जी, अद्वैत मताग्रही जब परमात्मा को भी शुद्ध ब्रह्म नहीं मानते तो ये लोग जीव को ब्रह्म कैसे सिद्ध कर सकते हैं ? राम कृष्णादिक अवतारों को मायिक बताकर जब परमात्मा को भी शुद्ध ब्रह्म नहीं बना पाये तो इस क्षुद्र जीव को ब्रह्म क्या बनायेंगे ?

इसमें मुझे एक शंका यह भी है कि आप कहते हैं कि जो जगत् की प्रकृति भूत माया है उसमें चित् का प्रतिबिम्ब ईश्वर है तब तो ईश्वर माया के अधीन हुआ । वह मायाधीश नहीं हो सकता । दर्पण के अधीन प्रतिबिम्ब होता है । प्रतिबिम्ब के अधीन दर्पण नहीं होता । पर मेरे पूर्व गुरु ने भगवान शिव की प्रार्थना करते हुये कहा--

> तब मायाबस जीव जड़, सन्तत फिरइ भुलान ।
> तेहि पर क्रोध न करिय प्रभु, कृपा सिन्धु भगवान ।।

अर्थात् माया ईश्वर के अधीन होती है यह प्रतिपादन था उनका । गरुड़ जी, अधिक क्या कहूँ अब तो खण्डन मण्डन चल पड़ा । मैंने सगुण पक्ष का प्रबल समर्थन किया और अपने तर्कों से निर्गुण की स्थापनाओं का खण्डन, फिर क्या था गुरुदेव के हृदय मंदिर में क्रोध का सिंहासन लग गया ।

गरुड़ जी ने प्रश्न किया—कागराज ! क्या कारण है कि लोमश जैसे ज्ञानी क्रोध के अधीन हो गये ? इसके उत्तर में उन्होंने कहा हे खगकुल मुकुटमणि गरुड़ जी, बात कुछ ऐसी

लगती है कि ज्ञान की पद्धति के दो पहलू हैं विश्वोन्मुखी और आत्मोन्मुखी। ज्ञान की प्रथम पद्धति यह है कि 'सर्वंखलु इदं ब्रह्म' परिदृश्यमान ये सारा विश्व ब्रह्म का रूप है। ऐसा मानने पर विश्व के प्रति हमारा दृष्टिकोण बड़ा ही सेवा मूलक होता है तथा मानव--जन्म के अनुरूप भी। क्योंकि इस मानव के चोले में आये हैं तो हम पर समाज का, देश का, राष्ट्र का बहुत बड़ा ऋण है। समाज सेवा के द्वारा ही हम उससे उऋण हो सकते हैं। इस भावना की प्राप्ति ज्ञान की प्रथम पद्धति से हो जाती है। दूसरी पद्धति है अहं ब्रह्मास्मि की, बिना समाज की सेवा किये, बिना परिश्रम किये ब्रह्म बनने वाली बात बड़ी खतरनाक है, बस 'दण्डग्रहणमात्रेण नरो नारायणो भवेत्', इस कथन के द्वारा तो सेव्य होकर समाज से सेवा प्राप्त करने का अधिकार-पत्र प्राप्त कर लेते हैं। अपने आपको आवश्यकता से अधिक महत्व देने लगते हैं। वे समझते हैं कि जो हम जानते हैं वह कोई नहीं जानता। सब अज्ञ हैं, दया के पात्र हैं, शास्त्र का सार हमीं जानते हैं। जो पद्धति हमने अपनायी है वही सब अपनायें अन्यथा कल्याण नहीं। गरुड़ जी, इस दुराग्रह के कारण जब कोई उनके विरुद्ध बोलता है तो उनके 'अहं' को ठेस लगती है और वे उबल पड़ते हैं।

सो, हे भुजंग पुंज भयंकर श्री गरुड़ जी,

मैंने हाथ जोड़े, प्रार्थना की महाराज--

भरि लोचन बिलोकि अवधेसा।
तब सुनिहउं निरगुन अपदेसा॥

सगुन उपासन कहहु मुनीसा।

पर मुनीश क्यों मानने लगे, वे चढ़ गये चंग पर। उन्होंने तो 'खण्डि सगुन मत अगुन निरूपा'। तब भला मैं क्यों मानने लगा ?

तब मैं निरगुन मत करि दूरी। सगुन निरूपउं करि हठि भूरी॥

इस अवज्ञा से उनका रोष उनके नियन्त्रण में न रहा, उनके अंगों में कंपन, चेष्टाओं में अस्वाभाविकता, आंखों में अरुणिमा, मुखाकृति में कठोरता, भौंहों में कुटिलता और शब्दों में बिजली की कड़क भड़क उठी। मेरे मन में एक निष्कर्ष जगा——

सुनु प्रभु बहुत अवज्ञा किये। उपज क्रोध ज्ञानिन्ह के हिये॥

ऐसा क्यों हो जाता है, गुणों से ऊपर उठे लोग गुणों के निम्न स्तर पर, तमोगुण में कैसे उतर आते हैं ? मेरे मन में एक निष्कर्ष मुस्करा उठा—

क्रोध कि द्वैत बुद्धि बिनु, द्वैत कि बिनु अज्ञान।
माया बस परिछिन्न जड़, जीव कि ईस समान॥

यद्यपि महात्माजी ने मुझे उपदेश दिया था कि—

सो तैं ताहि तोहि नहिं भेदा। बारि बीचि इव गावहिं वेदा॥

अनन्त भेदों में विभक्त इस विश्व में एक भी ऐसा उदाहरण नहीं मिल सकता जिससे एकत्व की सिद्धि की जा सके। वेदान्त में कुछ गिने-चुने उदाहरण हैं वारि-वीचि का, कीट-भृंग न्याय का, पर ये उदाहरण असमर्थ हैं सही स्थिति बताने में, नमूने के लिए वारि वीचि को लें।

सागर और सागर की लहरें भिन्न नहीं हैं, जीव लहरों की तरह हैं ब्रह्म सागर की तरह है, उससे उत्पन्न लहरें भला सागर से अलग कैसे हो सकती हैं ? वे तो स्वयं सागर ही हैं। सुनने में बड़ा अच्छा लगता है।

दरिया से हबाव की है ये सदा
तू और नहीं मैं और नहीं।
मिल जाऊंगा तुझमें बादे फना
तू और नहीं मैं और नहीं।

अथवा—

गुलशनो गुल है अलग, पर बागवान एक है।
चाहे जमीन बाँट लो पर आसमान एक है।।
तर्जे बयाँ अलग अलग, लेकिन जबान एक है।
लब की जबान और हो, दिल की जबान एक है।।
जिस्म तो कहने को है, पर मन तो अन्दर एक है।
मिल गयी सागर में नदिया, सारा सागर एक है।।

वारि वीचि का अर्थ आपने सुना पर इसमें आपत्ति क्या है ? विचार करने पर ऐसा ज्ञात होता है कि सागर और सागर की लहरों में तत्वतः भेद नहीं पर गुण कृत भेद है। सागर में जो अतल स्पर्शी गाम्भीर्य है वह लहर में नहीं होता। पुनः सागर में रत्न होते हैं, लहरों में नहीं होते तथा लहरें सागर के एक देश से उठती हैं उसी में लीन होती हैं।

भगवत्पाद श्री शंकराचार्य जी महाराज अपनी षट्पदी में कहते हैं।

सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वम् ।
सामुद्रोहि तरंगः ववचन समुद्रो न तारंगः ।।

हे नाथ यद्यपि तत्व की दृष्टि से आप से मैं अभिन्न हूँ पर एक महत्वपूर्ण अंतर है, तुमसे मैं हूँ मुझसे तुम नहीं हो । लहरें सागर से उत्पन्न हैं सागर की हैं पर लहरों से समुद्र नहीं होता। पुनः सागर है, तो उससे अलग धरती उसका आधार है, आकाश का अवकाश है, तब पवन का झकोरा लगता है और सागर में उठती हैं लहरें तथा सागर के विशाल वक्ष पर क्रीड़ा करती हुई लहरों को देखता है कोई चेतन प्राणी । ऐसा कहीं नहीं देखा या सुना है कि कोई लहर ही लहर से कहने लगे कि तुम तो सागर से अभिन्न हो । उपदेश देने वाला उपदेष्टा तथा उपदेश लेने वाला उपदेश्य शिष्य, जब दोनों ही उस अखण्ड चिद्घन सागर की लहरें हैं तो वह क्या किसको उपदेश देगा और कहाँ है वहाँ भ्रम का अवकाश ? एक इसी उदाहरण से समझ सकते हैं कि वेदान्त में इस तरह के जितने उदाहरण हैं वे सब असमर्थ हैं, पूर्ण तथ्य को सिद्ध करने में सर्वथा असमर्थ है। बताइये कहाँ चेतन का अनुचिन्तन, कहाँ जड़ पदार्थों की कहानी, दोनों में क्या मेल ? पर हाँ बेचारे श्रद्धालुओं को समझाने के लिये ये उदाहरण बड़ा अच्छा काम करते हैं—

कागराज ने खगराज से कहा——

मुझे भी उन्होंने कहा—

सो तैं ताहि तोहि नहिं भेदा । बारि बीचि इव गावहिं वेदा ।।

मैंने इसके प्रति अनास्था ही व्यक्त नहीं की अपितु उसका

खण्डन भी किया। महर्षि लोमश ने विचलित होकर कहा--अरे मूढ़ ! मैं चौंक गया, ये क्या ? महात्मा जी ने तो अभी मुझे ब्रह्म बताया था और अब कह रहे हैं मूढ़ ? किमाश्चर्यमतः परम्--

बोले—मूढ़ परम सिख देउं न मानसि।
उत्तर प्रति उत्तर बहु आनसि ॥

फिर बोले--अरे कौए ! मैंने सोचा यह क्या हुआ, मेरा दर्जा गिरता ही जा रहा है। अब मैं ब्रह्म तो क्या मूढ़ मानव भी नहीं रहा—गुरु जी गरजे--

सत्य वचन विश्वास न करही। बायस इव सबही ते डरही ॥

इतना कहकर उन्होंने अपने सत्य वचन का प्रयोग कर दिया, बोले--

सठ स्वपक्ष तव हृदय विसाला।
सपदि होहि पच्छी चंडाला ॥

जा चाण्डाल पक्षी हो जा। यह था उनके सत्य वचन और परम सिख का परिणाम। यह था 'अहं ब्रह्मास्मि' का अपरोक्ष साक्षात्कार करने वाले ब्रह्मज्ञानी का हृदय ! अब देखिये एक भक्त का हृदय—

हरि वाहन खगेन्द्र ने बड़ी उत्सुकता से पूछा--काग जी आपको उस समय कैसा लगा ? वे बोले—

लीन्ह शाप में सीस चढ़ाई। नहि कछु भय न दीनता आई ॥
तुरत भयउं मैं काग तब, पुनि मुनि पद सिर नाइ।

तत्काल काग बन गये। जब काग बन गये तब तो इन्हें कुछ काँव काँव करना ही चाहिये था। कौआ तो कठोर बोलने में बदनाम है, इन्होंने ऐसा नहीं किया बल्कि इन्होंने एक ऐसी क्रिया की है जिससे यह प्रतीत होता है कि उन्हें कौआ बनना बड़ा अच्छा लगा—पुनि मुनि पद सिर नाइ।

चाण्डाल पक्षी का शाप देने वाले लोमश के चरणों में सिर झुकाया, इसलिये नहीं कि वे क्षमा कर दें बल्कि इसलिये कि उन्होंने बड़ी कृपा की। उत्तम शरीर का भी एक अभिमान होता है, आज उसका आधार ही समाप्त कर दिया। काले कौए को कोई नहीं चाहता, कोई नहीं पालता और जिसे कोई नहीं चाहता, उसकी चाह संसार की ओर से हटकर प्रभु की ओर स्वतः हो जायेगी। उसे फिर प्रभु गले से लगा लेते हैं। इसलिये—

सुमिरि राम रघुबंस मनि, हरषित चलेउं उड़ाइ।

उन्हें अपार हर्ष हुआ, क्यों ? उन्होंने देखा कि मेरे जीवन का उत्थान शाप से ही हुआ है। कैलास वासी शिव ने शाप दिया—-यद्यपि उस समय मैंने शिव का सम्मान किया था, अपमान किया था श्री रघुवीर का, शिव ने दूसरे के अपमान से खिन्न होकर शाप दिया था। यही है ज्ञान की कचाई, पर उस शाप से अनन्त अनुभव मिले, प्रभु प्रेम मिला और दूसरे शाप ने उस प्रभु प्रेम के कुन्दन को शाप की आग में तपाकर शुद्ध कर दिया, इसलिये

—हरषित चलेउं उड़ाइ।

अथवा संसार में सुन्दर से सुन्दर पक्षी होते हैं, हंस हैं, मयूर हैं, कोयल हैं, शुक हैं, मैना हैं। मकानों की मुड़ेर पर जा बैठते हैं तो लोग चाहते हैं इन्हें पकड़ लें पिंजड़े में बन्द कर लें। हम अपने रिझाने का साधन बना लें पर मैं बन गया कौआ, किसी के पिंजड़े में बन्द होने वाला नहीं हूँ। स्वतन्त्र होकर विचरण करने का वरदान इस काग शरीर से मिल गया इसलिये——

हरषित चलेउं उड़ाइ।

अथवा इसलिये प्रसन्न हुये कि महात्मा जी ने बड़ी कृपा कर दी, मेरे प्रभु का श्री अवध में अवतार होने वाला है। ब्राह्मण होता तब भी वहां आदर पाता, प्रभु के पूज्य पिताजी मेरे चरण पखारते, श्री हरि की जननी अम्बा कौसल्या मेरी आरती उतारतीं, मैं प्रभु को आशीर्वाद देता, यह सब बड़ा अपराध बन जाता, महात्मा लोमश जी ने तो मुझे ब्रह्म ही बनाना चाहा था पर उस दशा में तो ब्रह्म से भी बड़ा बन गया होता, क्योंकि ब्रह्म भी मेरे चरणों में लेटा हुआ नजर आता, पर अब दृश्य बदल जायेगा इसलिये——

—हरषित चलेउं उड़ाइ।

अथवा उन्होंने सोचा कि मनुष्य बने रहते तो अयोध्या तक जाने में बड़ा समय लगता, और वहां पहुँचने पर भी पहरेदारों का झंझट रहता, तथा प्रभु के मिलने का कोई विशेष अवसर होता, संभव है दिन भर बैठे रहना पड़ता पर अब ये सारी बाधायें दूर हो गयीं अब तो जब चाहा तब भीतर महलों में

चले गये और जब तक जी चाहा तब तक जीवन-धन को जी भर के निहारते रहे--उनके साथ खेलते रहे। इसलिये कहा--

हरषित चलेउं उड़ाइ।

लोमश के शाप को लेकर भगवती गिरिनन्दिनी पार्वती के मन में बड़ा आश्चर्य हुआ। आश्चर्य इसलिये नहीं हुआ कि लोमश जैसे ज्ञानी को क्रोध आ गया किन्तु चकित इस बात पर हुई कि काग भुशुण्डि के मन में इसके प्रति प्रतिकूल प्रतिक्रिया नहीं हुई, शिवजी ने मुस्करा कर कहा--

उमा जे राम चरन रत बिगत काम मद क्रोध।
निज प्रभुमय देखहिं जगत का सन करहिं विरोध॥

क्योंकि भक्तों की पद्धति कुछ और होती है, वे लोग—

निज प्रभु मय देखहिं जगत

अथवा—

सीय राम मय सब जग जानी। करहुं प्रनाम जोरि जुग पानी॥

यदि कोई प्रभु प्रेमी है तो उसकी विचार धारा ऐसी ही बन जायेगी जिसका उल्लेख भगवान शंकर ने पार्वती जी से किया।

एक उर्दू का शायर कहता है।

करूँ मैं दुश्मनी किससे अगर दुश्मन भी हो मेरा।
मोहब्बत ने जगह दिल में नहीं छोड़ी अदावत को॥

प्रभु के निकट निवासी नारायण परायण श्री गरुड़ जी गद्गद हो गये, बोले कागभुसुण्डि जी, आपको लोमश जी में दोष दर्शन नहीं हुआ यह बड़े आश्चर्य की बात है।

काकराज कहने लगे, गरुड़ जी !

सुनु खगेश नहि कछु रिषि दूषन। उर प्रेरक रघुवंश विभूषन ।।

लोमश जी का कोई दोष न था, वह तो मेरे प्रभु ने उनके हृदय में बैठकर मेरे प्रेम की परीक्षा ली, यह उन महात्मा जी के दर्शनों का प्रभाव था कि मैं उस परीक्षा में पास हो गया। श्री महर्षि लोमश जी के कारण मुझे नम्बर अच्छे मिल गये ।

मन बच क्रम मोहिं, निज जन जाना ।
मुनि मति पुनि फेरी भगवाना ।।

सचमुच—

राम भगति महिमा अति भारी ।

भाव साम्राज्य की एक छत्र अधीश्वरी, सिद्धियों की सेना जिसके आदेश की प्रतीक्षा में कर संपुट बांधे प्रतिक्षण खड़ी रहती है, जो निखिल सारातिसार सर्वस्व की भास्वरी सामग्री है, जो साधना के सघन कानन पर उमड़ घुमड़ कर रिमझिम रिमझिम बरसने वाली घन घटा है, ऐसी समस्त शक्ति चक्रवर्तिनी, विश्वम्भरा की ज्योतिष्मती जीवनी-शक्ति, भव्य भाव भरी श्री भगवद् भक्ति के श्री चरणों में मैं अपनी भावना के समग्र सुमन समर्पित करता हूँ ।

भगवद् भक्त इस भक्ति के लिये अपार कष्ट हँस-हँस कर झेल लेता है पर प्रभु प्रेम को नहीं छोड़ता ।

किसी का [illegible] छन्द है

तौक पहिरावौ, पाँव बेड़ी लै भरावौ,
गाढ़े बन्धन बँधावौ औ खिचावौ काची खालसो।
विष लै पिवावौ ता पै मूठ हूँ चलावौ,
मँझधार में डुबावौ, बाँधि पाथर बिसाल सो।
बिच्छू लै बिछावौ, ता पै मोहि लै सुवावौ,
फेरि आग हूँ लगावौ बाँध कापड़ दुसालसो।
गिरि ते गिरावौ, कारे नाग पै डंसावौ, हा हा
प्रीति न छुड़ावौ प्यारे मोहन नंदलालसो॥

निष्पक्ष समालोचक–
गोस्वामी तुलसीदास

आधुनिक पाठक प्रत्येक तथ्य को तर्क की कर्कश कसौटी पर कसना चाहता है। किन्तु खेद यह है कि जिस तर्क पर वह कसना चाहता है उस तर्क का परीक्षण करना भूल जाता है। तराजू तौलती है वस्तुओं को, पर तौलने के पूर्व उसके सन्तुलन को न देखना नादानी है। उस दशा में तराजू की तौल अप्रामाणिक है।

गोस्वामी तुलसीदास जी का सम्पूर्ण काव्य इस तथ्य का निर्भ्रान्त साक्षी है कि श्रीराम के अनन्य भक्त होकर भी, 'सीय राम मय सब जग जानी'—जैसे व्यापक एवं उदात्त सिद्धान्त का उद्घोष करते हुए भी वे वर्णाश्रम धर्म के पूर्ण समर्थक हैं। वर्ण धर्म के अनुसार वे ब्राह्मणों के परम प्रशंसक हैं। स्थल-स्थल पर उनकी स्तुति करते नहीं अघाते। वे मानते हैं कि ब्राह्मण धरती के देवता हैं—

—'बन्दौं प्रथम महीसुर चरना'।

ब्राह्मणों की प्रसन्नता मंगल की मूल है—

—मंगल मूल विप्र परितोषू।

ब्राह्मणों का रोष कुल का नाश करने वाला होता है——

—दहहि कोटि कुल भूसुर रोषू।

मांगलिक कार्यों में ब्राह्मण ही पूज्य हो सकता है, चाहे वह शीलहीन ही क्यों न हो——

—पूजिय विप्र सील गुन होना।

ब्राह्मणों की चरणानुरक्ति, ईश्वर भक्ति का प्रथम सोपान है——

—प्रथमहि विप्र चरन अति प्रीती

इस प्रकार की प्रशंसा, पूरे 'रामचरित मानस' में उपलब्ध है। ब्राह्मणों की यह प्रशंसा, केवल तुलसी की मौलिक उपज नहीं है, यह तो उन्हें संस्कृत-वाङ्मय से विरासत में मिली है। ब्राह्मण, संस्कृति की ढाल है, सम्पूर्ण विश्व में देश के मूर्धा को ऊँचा उठाने वाला ब्राह्मण रहा है। विद्या का अक्षय कोष साधना का धनी, निखिल विश्व के कल्याण की कामना करने वाला है ब्राह्मण। पर वही ब्राह्मण जब ब्राह्मणत्व से पतित हो जाता है तब वह प्रशंसनीय नहीं निन्दनीय बन जाता है। ब्राह्मणों के प्रशंसक गोस्वामी तुलसीदास जी ने उन ब्राह्मणों में संयम के स्थान पर दम्भ देखा, श्रेष्ठ गुणों के स्थान पर अवगुण देखे तो उन्होंने खूब खरी-खरी सुनाई, उनकी पूज्य भावना पर निर्मम प्रहार किये। उनकी इतनी ही निन्दा की जितनी कि प्रशंसा। उन्होंने कहा—

विप्र निरच्छर लोलुप कामी।
निराचार सठ वृषली स्वामी ।।
बेचहिं बेद धरम दुहि लेहीं।
पिसुन पराइ पाप कहि देहीं ।।

*   *

पण्डित सोइ जो गाल बजावा।

*   *

द्विज चिन्ह जनेउ उघार तपी

*   *

द्विज श्रुति बेचक.....................

*   *

सोचिय विप्र जो बेद विहीना।
तजि निज धरम विषय लवलीना ।।

विषय-संलग्न धर्महीन ब्राह्मण तो वस्तुतः ब्राह्मणता से रहित है। रावण भी तो ब्राह्मण था, वेदों का पण्डित, अग्निहोत्र करने वाला, पर हो गया ब्राह्मणत्व से शून्य। वह बन गया राक्षस। तुलसी के मर्यादा पुरुषोत्तम राम का अवतरण ही उसके विनाश के हेतु हुआ। भला श्रीराम के सच्चे उपासक तुलसी, किसी पथ भ्रष्ट तथाकथित ब्राह्मण के प्रशंसक कैसे हो सकते हैं ? वस्तुतः व्यक्तिवाद की आरती वही उतारते हैं जो स्वाभिमान शून्य हैं या जो तानाशाहों के चाटुकार या चमचे हैं।

वर्णधर्म में दूसरा स्थान क्षत्रियों का है।

तुलसी ने जितनी कटु आलोचना ब्राह्मणों की की है, उतनी क्षत्रियों की नहीं। तुलसी के युग में क्षत्रियत्व की, पौरुष की बड़ी आवश्यकता थी, उसे उन्होंने उत्तेजित किया है तथा उन क्षत्रियों की निन्दा की है जो पद पाकर प्रजा पीड़क साबित हुए।

थोड़े से उदाहरण प्रस्तुत हैं :—

सोचिय नृपति जो नीति न जाना।
जेहि न प्रजा प्रिय प्रान समाना॥
छत्रिय तनु धरि समर सकाना।
कुल कलङ्क तेहि पामर जाना॥
नृप पाप परायन धर्म नहीं।

वर्ण धर्म में तीसरा स्थान वैश्यों का है। गोस्वामी जी ने उन वैश्यों की निन्दा की है जो धनवान् होकर कृपण हैं और पुनः सामान्य वर्ग का शोषण करते हैं, न उन्हें लोक का डर, न परलोक का, और न ईश्वर के प्रति आस्था है।

सोचिय बयस कृपन धनवानू।
जो न अतिथि सिव भगत सुजानू॥

* *

दम दान दया नहि जानपनी।
जड़ता परबंचनताऽति घनी॥

वर्णधर्म का चतुर्थ आधार स्तम्भ शूद्र है। स्वधर्मनिष्ठ ईश्वर के प्रति आस्थावान शूद्र तुलसी की दृष्टि में परम मान्य है। तुलसी के आराध्य चरित नायक राम इसी आधार पर निषाद

राज को गले लगाते हैं, और उस भक्तिमान भरत भ्राता के समान आदर देकर अयोध्या के भरे राज दरबार में उसे सम्मानित करते हैं--

तुम मम सखा भरत सम भ्राता।
सदा रहेहु पुर आवत जाता।।

सदाचारिणी शबरी के जूठे फल खाते हैं, किसी ऋषि या ब्राह्मण को इतना आदर कहीं नहीं दिया। पर उनके दम्भ पर तुलसी प्रहार करते हैं।

सोचिय सूद्र बिप्र अवमानी।
मुखर मान प्रिय ज्ञान गुमानी।।
सूद्र द्विजन्हि उपदेसहिं ज्ञाना।
मेलि जनेऊ लेहिं कुदाना।।

बादहिं सूद्र द्विजन्हि सन, हम तुमतें कछु घाटि।
जानइ ब्रह्म सो विप्रवर, आँख दिखावहिं डाटि।।

* *

जेहि ते नीच बड़ाई पावा।
सो प्रथमहि हठि ताहि नसावा।।

भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता का उत्तमाङ्ग मूर्धा है–आश्रम-व्यवस्था। क्रम से उन्नति के महान सोपान हैं ये। नर से नारायण बनने की प्रक्रिया है यहां। तुलसी इसके प्रशंसक हैं।

वरनाश्रम निज निज धरम निरत वेद पथ लोग।
चलहिं सदा पावहिं सुखहि नहि भय सोक न रोग।।

पर वह आश्रम-व्यवस्था उच्छिन्न हो गई, विकृत हो गई

तो तुलसी ने उसे भी आड़े हाथों लिया। अपने यहाँ आश्रम चार हैं, ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यास। सर्वप्रथम ब्रह्मचर्याश्रम है। शिक्षा संस्थाओं में अध्ययन के लिये गये, आचारहीन अनुशासनहीन ब्रह्मचारियों पर शोक व्यक्त करते हुए गोस्वामी जी कहते है :—

सोचिय बटु निज ब्रत परिहरई।
जो नहिं गुरु आयसु अनुसरई॥

द्वितीय आश्रम है गृहस्थाश्रम। जिस आश्रम के सहारे अन्य तीन आश्रम जीते हैं, फलते-फूलते हैं। उत्तरदायित्वपूर्ण कर्म का मूलाधार होता है यह आश्रम। उसकी विकृति से सभी आश्रम विकृत हो जाते हैं। तुलसी का आक्रोश है—

'सोचिय गृही जो मोहबस करहि कर्म पथ त्याग'

गृहस्थाश्रम की विभिन्न इकाइयों के सम्बन्ध में उन्होंने मानस के कई स्थलों पर बड़ी तीखी टिप्पणियां की हैं। गृहस्थाश्रम की मूल है नारी। उसका आकर्षण अद्भुत होता है। जो व्यक्ति नारी की आसक्ति का विवेकहीन खिलौना बन जाता है, उस पर कटाक्ष करते हुए तुलसीदास जी कहते हैं :

नारि बिवस नर सकल गोसाईं।
नाचहिं नट मरकट की नाईं॥

इतना ही नहीं, उनका कितना अधःपतन होता है—

सब नर काम लोभ रत क्रोधी।
देव बिप्र श्रुति सन्त विरोधी॥

जो माता-पिता हैं, अत्यन्त आदरणीय, वे कितने हास्या-
स्पद हैं—

मातु पिता बालकन्हि बुलावहिं।
उदर भरइ सोइ धरम सिखावहिं॥

नारी के शरीर से प्यार करने वाला नारी का आदर नहीं कर सकता—

कुलवंति निकारहिं नारि सती।
गृह आनहिं चेरि निबेरि गती॥

ऐसी दशा में पुत्रों के मन में भी अपने माता पिता के प्रति कभी भी गम्भीर गौरव का भाव नहीं रह सकता। वे भी जो व्यवहार में देखते हैं, वह करते हैं, गोस्वामी जी कहते हैं—

सुत मानहिं मातु पिता तब लौं।
अबलानन दीख नहीं जब लौं॥
ससुरारि पियारि लगी जबते।
रिपु रूप कुटुम्ब भये तबते॥

ऐसी स्थिति में नारी का अपना व्यक्तित्व क्या होगा, इसका भी लेखा-जोखा किया गया है—

सौभागिनी बिभूषन हीना।
विधवनि के शृंगार नवीना॥

* *

अबला कच भूषन भूरि छुधा

शूर्पणखा के प्रसंग में उन जैसी स्त्रियों की दूषित मनोवृत्ति का चित्र है—

भ्राता पिता पुत्र उरगारी। पुरुष मनोहर निरखत नारी।।
होइ बिकल सक मनहि न रोकी। जिमि रवि मनि द्रव रबिहि बिलोकी।।

गृह कलहकारिणी, स्वार्थ परायण, क्षुद्र लोगों के बहकावे में आने वाली स्त्रियों की अविश्वसनीय मनोवृत्ति पर कटाक्ष करते हैं, महाकवि। सन्दर्भ है कैकयी के प्रसंग का—

सत्य कहहिं कवि नारि सुभाऊ।
सब बिधि अगहु अगाध दुराऊ।।
निज प्रतिबिंब बरुक गहि जाई।
जानि न जाइ नारि गति भाई।।

काह न पावक जारि सक, का न समुद्र समाइ।
का न करै अबला प्रबल, केहि जग काल न खाइ।।

*   *

बिधिहु न नारि हृदय गति जानी।
सकल कपट अघ अवगुन खानी।।

गृहस्थाश्रम के पश्चात् वानप्रस्थाश्रम आता है। वन की ओर प्रस्थान करने वाला वानप्रस्थ, गृह-कार्यों से मुक्त होकर सपत्नीक ममता के दायरे से अलग होकर संयमपूर्ण जीवन व्यतीत करता था। इसका दुहरा प्रभाव पड़ता था, सन्तान के सामने त्याग का आदर्श उपस्थित होता और वे समझते कि इस आश्रम से भी एक ऊंचा आश्रम है। पर जब लोग गृह की दीवारों के अन्दर—ममता के घेरे में वृद्धावस्था बिताने लगे तब से अनेक दोष समाज में आ गये। गोस्वामी तुलसीदास जी इस दशा पर दुःख व्यक्त करते हैं—

बैखानस सोइ सोचै जोगू ।
तप बिहाइ जेहि भावहि भोगू ।।

सबके अन्त में आता है संन्यास आश्रम । त्याग-वैराग्य का मूर्तरूप । अरुणाभ काषाय वस्त्रों में लिपटा कलेवर, आग की ज्वालाओं में जीवित ही सौंपे हुए शरीर का प्रतीक होता था । पर तुलसीदासजी ने देखा—आज का सन्यासी विवेक-विराग-विहीन, प्रपञ्च-परायण, अट्टालिकाओं में सुखपूर्वक निवास करता है तो उन्होंने जनता को सावधान किया—

सोचिय जती प्रपंच रत बिगत विवेक बिराग

* *

नारि मुई गृह संपति नासी ।
मूंड़ मुड़ाइ भये सन्यासी ।।

* *

निराचार जो श्रुति पथ त्यागी ।
कलियुग सोइ ज्ञानी सो विरागी ।।

* *

बहु दाम संवारहिं धाम जती ।
विषया हरि लीन्ह न रहि विरती ।।

तुलसीदास जी ने इस आश्रम के लोगों पर अन्तिम चोट बड़ी करारी दी है, उनके शब्दों को ही रखना उचित होगा—

परतिय लम्पट कपट सयाने ।
मोह द्रोह ममता लपटाने ।।

तेइ अभेदवादी ज्ञानी नर।
देखा मैं चरित्र कलियुग कर ॥

तुलसीदास जी ने अपने मानस में गुरु की बड़ी महिमा गायी है। लिखा है—

गुरु बिन भव निधि तरइ न कोई।
जो बिरंचि संकर सम होई ॥

और यहां तक कह दिया—

तुमते अधिक गुरुहि जिय जानी।

पर गोस्वामी जी ने नकली गुरुओं की खूब खबर भी ली है। जब लोगों ने शिष्य संख्या इसलिए बढ़ा दी कि इससे बड़ा मौलिक लाभ है। बिना ताज के महाराज बन जाते हैं, एक प्रापर्टी—एक जमींदार जैसी–चीज तैयार होती है तो गोस्वामी जी ने सावधान किया—

गुरु सिष अन्ध बधिर कर लेखा।
एक न सुनहि एक नहिं देखा ॥
हरइ शिष्य धन सोक न हरई।
सो गुरु घोर नरक महं परई ॥

इस प्रकार हम देखते हैं कि तत्त्वदर्शी सन्त तिलक तुलसी ने समाज के सभी वर्गों पर दृष्टि रक्खी है। उन्होंने किसी वर्ग विशेष, जाति विशेष या सम्प्रदाय विशेष का कहीं पक्षपात नहीं किया।